समाधि - समीक्षा

लेखक

मुनि श्री 108 सरल सागर जी महाराज

अर्थ सहयोग

- श्री नाथूराम गुलाम चन्द चौधरी (जैन) पठारी
- श्री धन्नालालजी सिंघई (जैन) पठारी
- श्री साबू लालजी जैन मसुरयाई वाले पठारी
- श्री ज्ञान चन्दजी जैन गड़ियावाले पठारी
- श्री सुरेश कुमार जैन जमुनिया वाले पठारी
- श्री सुन्दर लाल जी सहेले (जैन) पठारी
- अनेकान्त ज्ञान मंदिर छोटी बजरिया बीना सागर

प्रकाशक

अनेकान्त ज्ञान मंदिर छोटी बजरिया बीना सागर

प्रेरक	-	105 क्षुल्लिका चन्द्रमति माताजी।
ग्रन्थ	-	समाधि समीक्षा
प्रणेता	-	108 मुनि श्री सरल मागर जी महाराज।
संस्करण	-	प्रथम प्रति 1000 वीर निर्माण सं 2524 सन् 1998
प्रकाशक	-	अनेकान्त ज्ञान मंदिर छोटी बजरिया बीना (सागर)
प्राप्ति स्थान	-	अनेकान्त ज्ञान मंदिर छोटी बजरिया बीना (सागर)
मूल्य	-	डाक व्यय मात्र
मुद्रक	-	श्री पद्मावती ऑफसेट एव पैकेजिग इण्ड मदन महल थाने के पास, अण्डर ब्रिज रोड, जबलपुर फोन (प्रेस) 411921 (ऑफिस) 410015
कम्पोजिंग	-	विजन कम्प्यूटर्स फोन-23291

लेखक की अन्य कृतियाँ

1. **पंच कल्याण गजरथ समीक्षा**
2. **आचार्य समीक्षा**
3. **नग्नत्व समीक्षा**
4. **श्रावक समीक्षा**
5. **निशाचर समीक्षा**
6. **मुमुक्षु समीक्षा**

अपनी बात एवं आशीर्वाद

अन्य प्रकाशित समीक्षाओं मे कही गई उपरोक्त शीर्षक की पुष्टि प्रस्तुत 'अपनी बात एवं आशीर्वाद' में भी की जा रही है। 'न्योछावर' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से निम्न जाति के लोगों को दी जाने वाली द्रव्य के लिये किया जाता है और शास्त्रों के क्रय-विक्रय में आने वाली द्रव्य के लिए भी किया जाता है। साथ ही समर्पण शब्द का पर्यायवाची भी है।

हस्तलिखित किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रंथों में न्योछावर शब्द का उल्लेख नहीं मिला पढ़ने के लिए। पूछने पर वृद्ध लोगों से ज्ञात हुआ कि जब से छापेखानों का प्रचार हुआ तब से न्योछावर, कीमत, मूल्य जैसे शब्दों ने जोर पकड़ लिया। तीनो का एक ही अर्थ है पैसा दे- लेकर खरीदना-बेचना। फिर भी लोग न्योछावर एवं कीमत, मूल्य में अन्तर मानते हैं अर्थात् न्योछावर कहने में इतनी झिझक नही होती जितनी कीमत एवं मूल्य कहने में होती है। इस शब्द का प्रयोग बहुत कम होता है। इससे सिद्ध होता है कि अब कीमत आदि शब्दों के प्रयोग में बिल्कुल भी झिझक नहीं है। जब 'न्योछावर' का अर्थ निम्न वर्ग के लोगों को दिये जाने वाली द्रव्य लिया जाये तो शास्त्रो की न्योछावर लेने वालों को निम्न वर्ग के लोगों की श्रेणी में ही गिना जाना चाहिए।

जिस 'न्योछावर' शब्द को लेकर चर्चा की जा रही है उसका देना न्योछावर करने वाले की इच्छा पर निर्भर करता है कि कितनी न्योछावर करना चाहता है, लेने वालों की इच्छा पर निर्भर नहीं है, किन्तु शास्त्रों को दी जाने वाली न्योछावर दो तरीके से भिन्न है - पहला तरीका, शास्त्र की न्योछावर लेने वालो के ऊपर निर्भर है कि कितना न्योछावर लेना है। दूसरा तरीका, लौकिक दृष्टि से दूल्हे एवं धार्मिक दृष्टि से भगवान के ऊपर की जाने वाली न्योछावर का द्रव्य तो लेने वालों को दे दिया जाता है, किन्तु दूल्हा या भगवान नहीं दिये जाते हैं, लेकिन शास्त्र लेने वाले को देने वाला न्योछावर लेकर शास्त्र दे देता है। जबकि 'न्योछावर' शब्द के अनुसार भगवान की प्रतिमा की तरह शास्त्र नहीं लेना चाहिए बल्कि न्योछावर की द्रव्य शास्त्र पर निछावर करके दे देना चाहिए।

जिसने भी शास्त्रों पर 'न्योछावर' शब्द रखने की परंपरा चलाई होगी उसके दिमाक मे या उसके सामने उपरोक्त तर्क नहीं आया होगा। कुछ भी हो कीमत एवं मूल्य जैसे शब्दों ने समस्या को हल कर दिया। जिन्हें कांटे लगते ही रहते हैं उन्हें तो अनुभव होता ही रहता है कि कांटा लगते समय भी दर्द होता है और निकालते समय भी। और कांटा लगे अधिक समय हो गया हो तो छूने भी नहीं देता। समाज में व्याप्त कुरीतियों की कांटों जैसी दशा है। धर्म में कुरीति प्रवेश होते समय विवेकियों को निश्चित रूप से दर्द हुआ होगा, लेकिन अविवेकियों को इस समय दर्द होता है जब कोई उन्हें निकालने का प्रयास करता है। निकट भविष्य में तो यह आशा नहीं है कि शास्त्रों का क्रय-विक्रय यह कुरीति निकलेगी, क्योंकि जिन्हें समाज अपना मार्गदर्शक मानती है वे गुरु भी इस कुरीति को निकालने में दर्द का अनुभव करते हैं। सामान्य

लोगों के लिए ये कुरीति कांटा चांई बन चुकी है। अर्थात कुरीति को कुरीति ही नहीं समझ रहे हैं। मुनि श्री ब्रह्मानन्द सागर जी के विषय में सुना है उन्होंने उन ग्रन्थों से स्वाध्याय करने का त्याग कर दिया है जिन पर मूल्य अंकित हैं। अभी हम इतना साहस नहीं कर पा रहे हैं। हम उन लोगों के समान इस कुरीति का समर्थन करने के लिए मजबूर हैं जो कहते हैं कि हम शास्त्र बेचेंगे नहीं, यह नियम तो ले सकते हैं, लेकिन खरीदेंगे नहीं, यह नियम नहीं ले सकते, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर कोई भेंट में दे ही देगा यह कोई जरुरी नहीं है।

उन विक्रेताओं का धनहीन पाठकों के साथ कैसा अन्याय एवं छल है जो भेंट दी जाने वाली पुस्तकों, शास्त्रों की कीमत, लागत क्रेताओं से वसूल कर लेते हैं, लागत से कैई गुनी कीमत रख करके।

हम अपने व्यक्तिगत विचार से कहे तो उचित ही होगा कि जब से शास्त्रों के अनुवाद, सम्पादन, लेखन की बागडोर पण्डितो के हाथ में आई तभी से क्रय-विक्रय ने जोर पकड़ा है। किसी विद्वान के मुख से सुनने को यह नहीं मिलता है कि क्रय-विक्रय नहीं होना चाहिए शास्त्रों का। एक विद्वान से किसी ने कहा कि आप इस समीक्षा का दूसरा भाग कब से लिखना प्रारम्भ कर रहे हैं ? उत्तर मिला- अभी हमारे फंड में इतना पैसा नहीं है पहले प्रकाशन के विक्रय के बाद लिखना प्रारम्भ करेंगे। ऐसा विचार न साकार हुआ न हो सकता था।

अपनी बात के अन्तर्गत, जिससे प्रस्तुत समीक्षा लिखने की प्रेरणा मिली है ऐसी स्वर्गस्थ क्षुल्लिका चन्द्रमति माता जी को देवरी चातुर्मास के समय सागर के लोग उन्हें अचेत अवस्था में लाये थे। एक ही दिन के उपचार से उनमें संतोष जनक चेतनता आई। उस बीच उन्होंने हमारी प्रेरणा से सहर्ष सल्लेखना व्रत स्वीकार कर लिया और ठीक चतुर्दशी ब्रह्म मुहूर्त में धर्म श्रवण करते हुए सद्गति को प्राप्त किया। उन्हीं दिनों प्रति रविवार को सल्लेखना के विषय में ही प्रवचन चला करते थे जिन्होंने 'समाधि-समीक्षा' का रूप ले लिया। उसके लिखने का योग पठारी में प्रथम चातुर्मास की समाप्ति पर मिला अर्थात् लिखना प्रारम्भ हुआ और दूसरे चातुर्मास के प्रारम्भ में समाप्ति का योग बना अर्थात् पूर्ण हुई। प्रस्तुत समीक्षा को प्रकाशित करने वाली अनेकान्त ज्ञान मंदिर संस्था ने छपे एवं हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह, संरक्षण में अल्प समय में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। इस संस्था के सम्बर्धन हेतु होने वाले आयोजनों के कारण उससे जुड़े विद्वानों से हम आशा रखते हैं कि भोगोपभोग की साधारण वस्तुओं की तरह क्रय-विक्रय की वस्तु बन गये शास्त्रों को वैसा करने पर रोक लगाने हेतु समाज को मार्गदर्शन दें। क्रय-विक्रय की वस्तु पूज्य नहीं होती शास्त्र पूज्य होते हैं।

प्रकाशन में सक्रिय रूप से सहयोगी रहे हैं ब्र. संजय जैन एवं ब्र. सुशील जैन पठारी जिन्होंने प्रूफ रीडिंग में और उसे प्रकाशन स्थल तक लाने, ले जाने में अपना अमूल्य समय दिया। अज्जू भइया (आजाद कुमार) जी एवं चन्दू भइया (चन्द्र कुमार) जी जबलपुर वालों की जिम्मेदारी तो सहयोगी है ही। अर्थ सहयोग की जिम्मेदारी पठारी के ही कतिपय दाताओं ने अपने ऊपर ली। सभी धन्यवाद एवं आशीर्वाद के पात्र हैं।

प्रस्तावना

शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने की अपेक्षा उपदेश सुनने-सुनाने में एकाग्रता की विशेष रूप से आवश्यकता होती है और सुनने-सुनाने की अपेक्षा लिखने में विशेष रूप से एकाग्रता की आवश्यकता होती है। दूसरी तरह से कहें तो लिखने में जितनी एकाग्रता होती है या एकाग्रता का अभ्यास होता है उतनी अन्य दो कारणों से नहीं। भले ही प्रस्तुत समीक्षा को लिखने का उद्देश्य स्व के साथ पर कल्याण भी रहा हो, लेकिन स्वयं को इतना लाभ अवश्य हुआ है वह है समाधि में साधक एकाग्रता का अभ्यास। अब आवश्यकता है निरालब एकाग्रता के अभ्यास की।

विहार आदि के कारण थकान का अनुभव हो रहा हो तो पढने-पढाने या सुनने-सुनाने मे भले ही किसी तरह मन लग जाये, लेकिन लिखने में लगाना कठिन है। उपरोक्त कार्यो में लगाने का प्रयास भी किया जाये तो उतनी सफलता नहीं मिलती जितनी थकान रहित अवस्था मे मिल जाती है। इस अनुभूति से यह सबक मिला है कि शारीरिक एवं मानसिक इतना परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है कि हर क्षण समाधि में अनुत्साह की स्थिति बने। उपदेश सहज रूप में न हो रहा हो तो अनुमान लग ही जाता है कि अभी शरीर पूर्ण रूप से थकान रहित नहीं है। लिखने मे चिंतन की भी यही स्थिति होती है। यही कारण है कि कभी दिन भर का काम एक घंटे में हो जाता है और कभी एक घंटे या मिनिट के काम में दिन-दो-दिन भी लग जाते हैं। प्रस्तुत समीक्षा के साथ ही अभी तक लिखी समीक्षाएं विहार करते, पढ़ते-पढाते, उपदेश देते हुए लिखी गई हैं। अनुभव कहता है-उपरोक्त कार्यो से निवृत्त होते हुए लिखी जाती तो शीघ्रता तो होती ही उनके चिंतन का विषय भी कुछ विशेष ही होता। फिर भी ऐसा लगता है अन्य समीक्षाओं की अपेक्षा प्रस्तुत समीक्षा बहुत जटिल हो गई है।

लेखको का ऐसा मानना है कि किसी विषय को लिखने में जितना अधिक समय लगेगा उसमें उतना ही निखार आयेगा। इस मान्यता से हम सहमत हैं। इतना अवश्य कहेंगे कि कभी-कभी विषय उलझ भी जाता है जिसे सुलझाने में काफी परेशानियाँ आती हैं। हमारी यह बहुत बड़ी कमजोरी है कि किसी कार्य को अधिक समय नहीं देना चाहते। 'विद्या कालेन पच्यते' के अनुसार विचार समय के साथ-साथ निमित्त की अपेक्षा रखते हैं। किसी निमित्त से आये विचारों को तत्काल लिपि बद्ध न कर पायें, तब विस्मृत होने पर पुन: आये इसके लिए पुन: वही निमित्त मिलना चाहिए। यह जरुरी नहीं है कि वह निमित्त मिलेगा ही। मिले भी तो समय निश्चित नहीं। ऐसा ही होता है प्राय: यदि विषयान्तर में उलझ जायें तो। साधु चर्या में ऐसे अवसर आते ही हैं।

प्रस्तुत समीक्षा में एक उदाहरण दिया है कि एक ऐसी भी परीक्षा होती है जिसमें लिखे गये गलत उत्तर के नम्बर तो कटते ही है, सही उत्तर मे से भी काटे जाते है। जैसे एक नम्बर वाला प्रश्नोत्तर गलत लिखा हो तो दो नम्बर काटे जाते हैं अर्थात् एक सही उत्तर में से भी काट लिया जाता है। यही कारण है कि इस तरह की परीक्षा में बहुत कम विद्यार्थी सफल होते हैं। दूसरी ओर सरकार ने पहली कक्षा से लेकर पाचवी तक बिना परीक्षा के पास करने की घोषणा की है। विचारणीय है कि जिनकी शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति की नींव ही कमजोर कर दी हो वे उपरोक्त परीक्षा मे पास होने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे ? नही। इस समीक्षा के लिखे जाने का एक कारण यह भी है। उपरोक्त परीक्षा समाधि में होने वाली परीक्षा के सामने कोई मान्यता नही रखती। लौकिक दृष्टि से होने वाली उपरोक्त परीक्षा भले गौण कर दी जाये या योग्यता की अभिव्यक्ति का दूसरा कोई तरीका अपनाया जाये लेकिन यहाँ योग्यता की अभिव्यक्ति उपरोक्त परीक्षा के बिना हो नही सकती।

वर्तमान में अधिकाश साधुओं की दशा परीक्षा लिये बिना पाचवीं तक पास कर देने वाले छात्रों जैसी है और समाज की दशा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने में लगी सरकार जैसी है। इस समीक्षा में समय समय पर प्रतिक्षण समाधि के लिए प्रेरित किया गया है सावधान रहने के लिए। प्रश्न या शका हो सकती है कि सल्लेखना काल मे ही सल्लेखना पर गौर करने का शास्त्रो मे उल्लेख है। आपके कहे अनुसार हर क्षण गौर किया जाये तो दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण काल मे इन्ही को करने में लापरवाही बरती जायेगी। उदाहरण के लिए शिक्षाकाल मे शिक्षा ग्रहण करना ही मुख्य है शेष साधनाएं गौण होती हैं, गणपोषण काल में दूसरों को मार्गदर्शन देना मुख्य होता है और शेष साधनाएं गौण होती है। दोनो को एक साथ करते हुए चलना शारीरिक दृष्टि से किसी के लिए सम्भव भी हो, लेकिन परिणाम विशुद्धि की अपेक्षा दोनों एक साथ होना असम्भव है, क्योंकि सल्लेखना मे पर कल्याण की भावना पूर्णता गौण हो जाती है ? शका तो समीचीन है फिर भी समझने के लिए पहली बात तो यह है कि आयु कर्म के नाश का समय निश्चित नहीं है। दूसरी बात, आत्मसस्कार एवं सल्लेखना के अतिरिक्त शेष कालो में जो किया जाता है उसे छोड़ने के लिए नहीं कहा जा रहा है, अपितु वे कार्य अनासक्त भाव से ही किये जाये ताकि आपत्ति काल मे छोड़ने पर आकुलता न हो। काय को छोडना कायोत्सर्ग नहीं है, अपितु काय मे ममत्व छोडने का नाम कायोत्सर्ग का तात्पर्य अर्थ है। आदि के चार काल सल्लेखना से सर्वथा अछूते नहीं है। सल्लेखना तो कार्य और ये कारण है अत: कारण कार्य मे सर्वथा भिन्न नहीं होता। स्वामी समंतभद्र देव कहते हैं- सल्लेखना तप साधना का फल है।

साधुओं के छह कालो का शास्त्रों में उल्लेख है। उनमें से पांच को आधार बनाकर समीक्षा लिखी गई है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक साधु छहो कालों से गुजरें।

बहुत कम साधु होंगे जो छहो कालो से गुजरते हैं। कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो शिक्षा एवं गणपोषण की योग्यता नहीं रखते, लेकिन अत के तीन कालों को प्राप्त कर लेते हैं। और कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हे आदि के तीन कालों की योग्यता होते हुए भी, उनसे गुजरते हुए भी अंतिम तीन को प्राप्त नहीं कर पाते। यह भी एक आधार है इस समीक्षा का कि गणपोषण करते हुए कालों को क्यों प्राप्त नहीं कर पाते।

भिन्न-भिन्न विषयों पर निबंध लिखे जाते है शीर्षक के आधार पर। सभी निबंधों को एक पुस्तक का रूप देकर किसी एक शीर्षक से उसे अलंकृत कर दिया जाता है। यह तो स्पष्ट है कि इस शीर्षक का अन्य शीर्षकों के विषय से कोई संबंध नहीं होता अर्थात् अन्य विषयों की अपेक्षा यह शीर्षक सार्थक नही है। किन्तु 'समाधि समीक्षा' यह शीर्षक किसी भी अधिकार के लिए सर्वथा निरर्थक नहीं है। अंतिम अधिकार के लिए साक्षात् सार्थक है तो अन्य दो के लिए परम्परा से सार्थक है। पाठक यदि मनन-चिन्तन के साथ पढ़ें तो कोई भी अधिकार, काण्ड, शीर्षक का विषय मुख्य शीषक से सर्वथा अछूता नही है।

वैसे तो समीक्षा के अधिकार, काण्ड एव शीर्षकों की संख्या का ज्ञान विषय सूची के माध्यम से ही हो जायेगा फिर भी उन की सख्या का उल्लेख करते हुए प्रस्तावना में संक्षेप मे विषय का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा जा रहा है **'दीक्षा -शिक्षा समीक्षा' के चार काण्डों में बाईस शीर्षक हैं** जिन में वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे दी जा रही शिक्षा के गिरते स्तर के साथ साधुओ के गिरते स्तर की तुलना की गई है। विद्यार्थी जीवन में शिक्षा प्राप्त करते हुए बरती गई लापरवाही का उल्लेख करते हुए स्वयं को समझाने का प्रयास किया गया है कि वैसी भूल इस आत्मोद्धार के मार्ग में नहीं कर बैठना अन्यथा परिश्रम ही हाथ लगेगा।

दीक्षा से पूर्व शिक्षा के लिये प्रेरणा देने वाले पण्डितों/विद्वानों के दयनीय अंत ने भी तो सचेत किया है। इच्छित ज्ञान प्राप्त करने में बाधक बन रही दीक्षा और डगमगाते उपयोग को स्थिरता देने वाले कुन्दकुन्द कहते हैं - उतनी ही सीख ले लो जितनी जीवन मे उतार सको। हमारे गुरुजी का उपदेश है - 'बहुत नहीं बहुत बार पढ़ो' या कण्ठस्थ करो अर्थ सहित करो, क्योंकि हमें पास नही योग्य बनना है। मात्र पास होने का लक्ष्य रखने वाला बिना अर्थ समझे ही कंठस्थ करना पर्याप्त समझता है। उन साधुओं के दयनीय आचरण से बहुत कुछ सोचने समझने का अवसर मिला है जो दीक्षा से पूर्व प्रयोजनीय शिक्षा भी आवश्यक नहीं समझते। **प्रथम अध्याय के प्रथम काण्ड के अंतिम शीर्षक में** उपसंहार के रूप मे स्पष्ट किया गया है कि बीमार और स्वस्थ होते रहने पर जो सियार जैसी स्थिति होती है वह समाधि के योग्य नहीं है। जो प्राप्त ज्ञान या प्राप्त किया जा रहा अतिरिक्त ज्ञान

जीवन में उतारा न जा सके वह लौकेषणा को सूचित करता है जो समाधि का साधन नहीं है। इसी अध्याय के दूसरे लौकेषणा काण्ड के आठों शीर्षकों में श्रोताओं की रुचि के अनुसार पहले से तैयार करके उपदेश देने वाले साधुओं की उस सहपाठी से तुलना की है जो अपना पेपर करना छोड़ साथ में पढ़ने वाली बहनों को नकल देने जाता था। कैमरा सामने आते ही तन में अपनत्व, नाम सुनते ही नाम में अपनत्व बुद्धि, अस्थाई परिचित-परिचय में उपादेय बुद्धि, उपाधियों में उलझी मानसिकता लौकेषणा को सूचित करती है। ऐसे ही साधुओं का इस समय बोलबाला है। यही कारण है कि समाधि के इच्छुक साधुओं की उपेक्षा हो रही है। अंत में उपरोक्त मानसिकता के कारण से होने वाली दुर्दशा पर विचार किया गया है। इसी अध्याय के चतुर्थ काण्ड में चार शीर्षकों के द्वारा झूठी प्रशंसा में उलझी मानसिकता की समीक्षा की गई है। इसी अध्याय के अंतिम काण्ड में चार ही शीर्षकों के माध्यम से प्राइवेट परीक्षा देने के कारणों का स्पष्टीकरण करते हुए इनके साथ उनकी तुलना की गई है जो किन्हीं कारणों से घर में ही साधना करते हुए किसी साधु संघ में समाधि लेने की सोचते एवं करते हैं। कतिपय आचार्य भी ऐसी सलाह खासकर वृद्धों को दिया करते हैं। ऐसा करना समय के अनुसार कहाँ तक उचित एवं अनुचित है इसका परस्पर में चर्चा करते हुए स्पष्टीकरण किया गया है।

'गणपोषण समीक्षा' नामक दूसरे अधिकार में पांच काण्डों के अन्तर्गत 38 शीर्षक हैं जिसमें 'वैराग्य काण्ड' के आठ शीर्षकों में गुरु की पिता के साथ एवं शिष्य की पुत्र के साथ तुलना की गई है। वासना की दृष्टि से स्त्री समागम से पैदा होने वाली संतान के समान ख्याति/प्रसिद्धि पाने के उद्देश्य से शिष्य बनाने वाले गुरु का वह अनुकरण करे यह कोई जरूरी नहीं है। ऐसे ही गुरुओं के कारण, आहार, विहार, निहार एवं आवास के विषय में साधुओं में सिंह के समान स्वाभिमान न रहकर श्वानवत्दीनवृत्ति हो गई है। यह शहर, गांव एवं क्षेत्रवासी साधुओं की देन है। भूख से व्याकुल व्यक्ति को जैसे भक्ष्याभक्ष्य का भेद नहीं होता। वैसे ही इन गुरुओं को ऐसी भुखमरी पड़ी है कि अतिबाल, अतिवृद्ध एवं असाध्य रोगों से युक्त व्यक्तियों की अयोग्यता के विषय में अनजान या जानकर अनजान बन जाते हैं। इसके बाद भी कोई गड़बड़ी होती है तो सारा अपराध शिष्यों पर ही थोपा जाता है। भक्तों की अज्ञानता के कारण जब अकेला एक साधु मायाचार से बच नहीं पा रहा है, तब सामर्थ्य से बाहर संघ बटोर कर चलने वालों की क्या दशा होती होगी। ऐसे गुरुओं को आचार्य बना देने वाले गृहस्थों के बारे में सुनते हैं तो लगता है कि अगूंठा छाप सरपंच किसी योग्यायोग्य व्यक्ति को शिक्षक के लिये नियुक्त कर रहा हो। ऐसे गुरुओं के द्वारा बनाये गये शिष्यों की दादागिरि के विषय में पाठक स्वयं पढ़ें। दूसरे अध्याय के दूसरे काण्ड में चार शीर्षक हैं जिनमें राजनेताओं की दादागिरि तो चलती ही है साथ ही उनके संबंधी

एवं निकट के कार्यकर्त्ताओं की भी दादागिरि के समान गुरुओं के संबंधी एवं निकट भक्तों की दादागिरि भी देखी जाती है। विवेकवान शिष्य एवं अविवेकी साधुओं का इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत उल्लेख किया गया है। दूसरे अधिकार के तीसरे काण्ड में नव शीर्षकों में नकल एवं अनुकरण में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वर्तमान के साधु हों या गृहस्थों को लोक विरुद्धता का जितना भय रहता है उतना धर्म विरुद्धता का नहीं। नकल एक ऐसा ही उभय विरुद्ध कार्य है जिसके करने पर देर-अवेर दोनों तरह से पतन होता है। कौन किसको धोखा दे रहा है इसका उल्लेख अगले शीर्षकों में किया गया है। यह तो स्पष्ट है कि नकल करने वालों को चोरों एवं भिखारियों की तरह स्वाभिमान नहीं होता। यही कारण है कि साधुओं में आत्म कल्याण की अपेक्षा पर कल्याण करने में विशेष रूप से उत्सुकता देखी जा रही है। बिल्ली की चूहे में आसक्ति की तरह शिष्यों में आसक्ति देखी जा रही है। दोनों में महत्वाकांक्षा का स्पष्टीकरण भी किया है। पिच्छी, कमण्डल उपकरण के अतिरिक्त वस्तुओं के साथ में रखकर लाने ले जाने के तरीके पर विचार किया है। अंतिम शीर्षक में नकल काण्ड के उपसंहार में साधक की मिलेक्ट्री के जबान के साथ तुलना की गई है।

दूसरे अधिकार के चौथे काण्ड में आठ शीर्षक है। हमारे व्यक्तिगत विचार से यह लिखित परीक्षा शिक्षा के गिरते स्तर का ही नहीं, अपितु सारे अनर्थों का कारण है। गणपोषकों को गणपोषण से मिल रही वाहवाही से ही संतुष्टी नहीं, अत: नौकरी करते हुए ट्यूशन करने वाले शिक्षकों के समान क्षेत्र उद्धार की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है। ऐसे ही लोगों को उपलनाव कहा है जो सरसरी निगाह से काफी जांचने वालों के समान शिष्यों की परीक्षा करते हैं। मुनि धर्म को खतरा आलोचकों से नहीं, अपितु अंध भक्तों से है। संस्थाओं से न जुड़ने वाले साधुओं की दशा इस समय उन बेरोजगार शिक्षकों के समान है जो संस्थाओं से न जुड़ें तो ट्यूशन भी नहीं मिलती। समाज में पुण्यहीन धर्मात्मा साधुओं की स्थिति सरकार की दृष्टि में सवर्णो जैसी है और धर्महीन पुण्यात्मा साधुओं की स्थिति समाज में सरकार की तरह निम्न वर्ण के लोगों जैसी है। काण्ड के अंतिम शीर्षक में गणपोषकों की लौकिक शिक्षा के विषय में दोहरी मानसिकता पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय के अंतिम मनोरंजन काण्ड में आठ शीर्षक में वर्तमान में हो रहे मनोरंजन की आवश्यकता अनावश्यकता पर विचार करते हुए इनके साथ साधुओं के द्वारा होने वाले आवश्यक मनोरंजनों की तुलना की गई है। अनावश्यक मनोरंजन अश्लील मनोरंजनों की तरह अशुभोपयोग रूप एवं आवश्यक मनोरंजन शालीन की तरह शुभोपयोग रूप हैं। आवश्यक की तरह अनावश्यक मनोरंजन में अधिक से अधिक समय गुजारने वाले साधुओं की चित्रंजन में बगला भगत जैसी स्थिति होती है। मनोरंजन उसी समय आवश्यक है जब सहधर्मी विपत्ति ग्रस्त न हों। समय की सदुपयोगता एवं दुरुपयोगता पर विचार करते हुए

अंत में दीक्षा, शिक्षा गुरु के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे अध्याय के पांच काण्डों में 28 शीर्षक हैं- समाधि एवं सल्लेखना में शब्द भेद होते हुए भी अर्थ भेद नहीं है। दो शीर्षकों के माध्यम से अर्थ पर प्रकाश डाला है। अध्याय के प्रथम कांड में फोटो उतरवाने वालों की तरह जीवन में हरक्षण सचेत रहने के लिए सचेत किया गया है। अन्यथा असावधानी बरतने पर पालतू या फालतू कुत्ते के रूप में फोटो बिगड़ सकती है। इसके लिए प्राणी मात्र की सद्भावनायें अपने प्रति होना अनिवार्य है। धर्म के नाम पर इस समय काफी अनैतिकतायें बरती जा रही हैं। इन पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास भी लगाने वाले के प्रति दुर्भावना का कारण बना है। हर प्रतिकूलताएँ बदले की भावना को जन्म देती हैं। तत्काल ले न सकें तो निदान का कारण बनती है। क्षमा मांगने एवं करने में महत्व किसका है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि क्षमा भाव कोई निश्चित समय एवं किसी की अपेक्षा नहीं रखता।

तृतीय अध्याय के दूसरे काण्ड में तीन शीर्षक हैं - मुख से या हाथ से अथवा पिच्छी सहित हाथ से आशीर्वाद देने की जो आदत पड़ जाती है वह भी समाधि में बाधक है इस का स्पष्टीकरण करते हुए आशीर्वाद की वास्तविकता एवं औपचारिकता का तीनो शीर्षकों में विचार किया गया है। क्रय-विक्रय मे मोल-भाव की तरह नमस्कार करने एवं आशीर्वाद देने में भय आदि छुपे हों तो देने-लेने वाले वास्तविकता से शून्य हैं। तृतीय अध्याय के तीसरे काण्ड में छह शीर्षक हैं- जिसमें सर्वप्रथम 'भोग' शब्द से पांचों इंद्रियों के विषय के ग्रहण पर जोर दिया गया है। मिलाकर खाने की आदत को क्रमश: नहीं छोड़ा गया तो वह निश्चित रूप से समाधि में बाधक बनती है। साधक को चाहिए कि वह स्वयं शरीर की प्रकृति के आधार पर परिणामों का और परिणामों के आधार पर प्रकृति की पहचान करता रहे। किसी भी रोग को पैदा करने वाला विकार शरीर में न हो तो मौसम प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। मोक्ष मार्ग की यह विशेषता होती है कि बचपन की आदतें स्वयं छूट जाती है। लेटकर निद्रा लेना आदि कुछ ऐसी आदतें हैं जिनका शक्ति के अभाव में इस जीवन में छूटना बहुत कठिन मालूम पड़ता है। शरीर की शक्तिहीनता एवं मन की चंचलता को देखते हुए कुन्दकुन्द स्वामी से ही समाधान करने की प्रार्थना की गई है। इसी अध्याय के चतुर्थ काण्ड में सात शीर्षक हैं- तन को कपड़े के सदृश मानने पर जोर देते हुए उसका सदुपयोग करने के लिए प्रेरित किया है। रूप के पुजारियों के द्वारा किसी लड़के या लड़की को कुरूपता के कारण नापसंद कर दिया जाता है तब क्या ये उन्हीं को, उन्हीं जैसों को मोक्ष मार्गी के रूप में स्वीकार कर सकेंगे ? आगे के शीर्षक में इस शरीर को यंत्र के सदृश बताया है वर्तमान में किरायेदार मकान मालिक के साथ और मकान मालिक

किरायदारों के साथ मन माना व्यवहार करते हैं वैसा न आत्मा शरीर के साथ कर सकता है और न शरीर आत्मा के साथ। शरीर को किराये का मानकर चलने वाले समझें और निजीमान कर चलने वाले भी समझें। अंतिम शीर्षक में वैयावृत्ति एवं दान में सर्वथा भेद नहीं है इसे स्पष्ट किया है। इसी अध्याय के पांच में काण्ड में पांच ही शीर्षक हैं - समाधि में सहायक बनने वालो में सेवा एवं संबोधन ये दो गुण होना अनिवार्य हैं। धन और यश के लोभी डॉक्टरों के समान ऐसे सहायक खतरनाक हैं जो 'समाधि सम्राट' जैसी उपाधि पाने के लिये सहायक बनते हैं। संबोधन प्रासंगिक हो तो प्रभावी एवं हितकर भी होता है अन्यथा किस समय, किसे कितनी मात्रा में औषधि रूप संबोधन की आवश्यकता है इसका ध्यान न रखा जाये तो 'नीम हकीम खतरे जान' की तरह मात्र णमोकार मंत्र भी घातक सिद्ध हो सकता है। पढ़ें अंतिम शीर्षकों में।

'वीरतादि काण्ड' यह अधिकारों से परे है। इसमें विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। समाधिमरण जिसे वीर मरण भी कहा जा सकता है। इसे प्राप्त करने में पण्डित तो छोड़िये साधु भी चूक जाते हैं पहले शीर्षक में इसी विषय पर विचार किया गया है। दूसरे शीर्षक में खडे होकर आहार करने के उद्देश्य पर विचार किया है। तीसरे में अनात्मीय बातों का विस्मरण पर जोर दिया गया है। पद्मावती की आराधना को उपादेय मानने वाले समाधि के हकदार हो ही नहीं सकते। चौथे शीर्षक में बताया है। अंत में समाधि को मजाक समझ लेने वालों की समालोचना की गई है। परिशिष्टि में तीन शीर्षक हैं। जिनमें हाथी के स्वभाव वाला मानव समाधि का अधिकारी नहीं, इस पर विचार किया गया है।

दीक्षा-शिक्षा समीक्षा के विषय को स्पष्ट करते समय गणपोषक समीक्षा के विषय का उल्लेख हो जाना स्वाभाविक है और इसके विषय के उल्लेख के समय दीक्षा-शिक्षा के विषय का उल्लेख हो जाना भी स्वाभाविक है, क्योंकि विषय का स्पष्टीकरण ऐसा किये बिना करना कठिन है, अत: पाठकों को उस समय विषयान्तर नहीं समझना चाहिए।

शीर्षकों को पढ़कर पाठकों में भ्रम की स्थिति बन जाती है, अत: कुछ शीषकों को उदाहरण के रूप लेकर उनके अर्थ पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। समाधि की महानता के बारे में सभी शीर्षकों में पूछा गया है। कहीं हाँ के रूप में उत्तर दिया गया है और कहीं 'नहीं' के रूप में और कहीं दोनों के रूप में। समाधि के साधक किसी व्यक्ति की दृष्टि में समाधि महान नहीं है, ऐसा तो हो ही नहीं सकता फिर अधिकांश शीर्षकों में निषेध के रूप में उत्तर क्यों दिया गया है ? इसका समाधान पहले ही शीर्षक के माध्यम से करते हैं। योग्यता प्राप्त करने वाले विद्यार्थी की तरह जिन साधकों का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के योग्य योग्यता प्राप्त करने का होता है उनको मोक्ष नहीं तो सद्गति मिलना सुनिश्चित है।

जैसे योग्यता प्राप्त का लक्ष्य रख कर पढ़ने वाले विद्यार्थी का पास होना सुनिश्चित है। ऐसे साधकों की दृष्टि में समाधि धर्म महान ही है। पास होने का लक्ष्य रखने वाले विद्यार्थियों की तरह जिनका लक्ष्य स्वर्गीय भोगों को प्राप्त करना होता है उनका सद्गति पाना भी सुनिश्चित नहीं जैसे उस विद्यार्थी का पास होना। लक्ष्यहीन व्यक्तियों की दृष्टि में समाधि धर्म महान नहीं हो सकता। कहीं कहीं शीर्षकों में 'दिवस' शब्द का भी प्रयोग किया गया है दूसरे शीर्षक को ही लें- वह दिन कभी भी मुझे स्मरण में आ जाता है जब मरण से समाधि की भूमिका बनी थी। उस दिवस की प्रतीक्षा में हैं जब समाधि का सौभाग्य प्राप्त होगा। विद्यार्थी जीवन के वे दिन भी स्मरण में आ जाते हैं जिनमें लापरवाही बरती थी। श्रोताओं से जब कभी जिक्र कर बैठते हैं कि हमारे जीवन के 20-21 वर्ष कैसे व्यर्थ में चले गये। पश्चाताप होता है स्मरण आने पर; लेकिन जब आप लोगों की ओर दृष्टि जाती है तो संतोष धारण कर लेते हैं कि इनसे तो अच्छे हैं। मुझे दिन पर दिन विश्वास होता चला जा रहा है कि इक्कीस वर्ष की भूल वरदान सिद्ध हो रही हैं और आगे भी होगी। अभी तो विराम दिया जा रहा है समाधि से संबंधित अनुभूतियों को शब्द का रूप देने में; लेकिन भविष्य में जब तक लेखनी चलते रहने की हाथों में सामर्थ्य रहेगी तब तक अनुभूतियों को शब्द का रूप दिये जाते रहने का विचार है। सफलता भवितव्यता पर निर्भर हैं। जहाँ पर प्रश्न वाचक चिन्ह का प्रयोग किया गया है वहाँ पाटक सावधानी बरते, क्योंकि कहीं प्रश्न का उत्तर स्वयं लेख ने दिया है और कहीं पाठकों पर ही छोड़ दिया है। कहीं पर प्रश्न तो किया है लेकिन प्रश्न चिन्ह आवश्यक नहीं समझा।

अनुक्रमणिका (अध्याय 1)

दीक्षा-शिक्षा समीक्षा

I पास-फैल योग्यता काण्ड

II लौकेषणा काण्ड

III प्रशंसा काण्ड

IV प्राइवेट परीक्षा काण्ड

अध्याय 2 गणपोषण समीक्षा

I वैराग्य काण्ड

II सहधर्मी सहोदर काण्ड

III नकल काण्ड

IV ट्यूशन लिखित परीक्षा काण्ड

V मनोरंजन काण्ड

अध्याय 3 आत्म संस्कार सल्लेखना समीक्षा

I सद्भावना दुर्भावना काण्ड

II आशीर्वाद काण्ड

III आदत काण्ड

IV कपड़ादि आदत काण्ड

V सेवा, संबोधन काण्ड

वीरतादि काण्ड

परिशिष्ट

वीतरागाय नमः

दीक्षा-शिक्षा समीक्षा

I पास-फैल, योग्यता काण्ड

मंगलाचरण

वीर आदि जिन नाथ के चरनन् रखता माथ।
''समाधि समीक्षा'' में लिखूँ सिर पर रख दो हाथ ॥ 1 ॥

किन्चित् भय मुझे है नहीं, समंत भद्र हैं साथ।
समंत भद्र गुरुदेव जी पकड़ो मेरा हाथ ॥ 2 ॥

निर्ग्रन्थों के हेतु ही लिखा जाये यह ग्रंथ।
पाकर के सग्रंथता हो जाये निर्ग्रन्थ ॥ 3 ॥

गर्भ में जन्म हो या गर्भ से जन्म हो जन्म लेते ही मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। इस रहस्य को जानने वाले न के बराबर हैं। जानने वालों में भी गौर करने वाले भी न के बराबर हैं, इसलिए जन्म तिथि निश्चित गर्भ जन्म से होती है, गर्भ में जन्म से नहीं। उसी प्रकार मरण तिथि का निश्चय शरीर से निकल जाने के बाद होता है, शरीर धारण कर लेने के तत्काल बाद से होने वाली मृत्यु से नहीं होता। इस काल में आठ वर्ष के बाद ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है का अर्थ इस काल में प्रत्येक जीव का जन्म मिथ्यात्व के साथ ही होता है। वर्ण व्यवस्था के अनुसार शूद्र दशा में जन्म होता है। ऐसी अवस्थाओं में होने वाले जन्म का प्रतिवर्ष जन्म दिवस या वर्षगांठ मनाने वाले जैन-जैनेतर, गृहस्थ एवं गृहत्यागियों की उसी क्षण समाधि नहीं मरण ही होता है। जिस क्षण जो जीव अशुभ उपयोग से परिणित है उस क्षण मरण है और शुभ अथवा शुद्ध उपयोग से परिणित है उस क्षण समाधि। उसी प्रकार भव्य जीव के मोक्ष मार्ग पर कदम रखते ही संलेखना प्रारम्भ हो जाती है। चाहे वह गृह त्यागी हो या गृहस्थ। इस रहस्य को भी जानने एवं उस पर गौर करने वाले भी न के बराबर हैं, क्योंकि इस क्षेत्र, काल में सम्यग्दृष्टियों की संख्या न के बराबर है। यह बात उपरोक्त जन्म दिवस मानने वालों की बहुलता से ही सिद्ध हो जाती है।

1. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, नहीं, पास-फैल स्वर्ग-नरक योग्यता उत्थान।

विद्यार्थी का विद्यालय में पहुंचते ही विद्याध्ययन प्रारम्भ के साथ-साथ परीक्षा और पास-फैल होना भी प्रारम्भ हो जाता है इस रहस्य से विद्यार्थी अनभिज्ञ (अनजान) रहते हैं, अत: पढ़ते हुए किसी विद्यार्थी से पूछो कि क्यों पास हो गये तो उत्तर मिलता है। अभी परीक्षा ही नहीं हुई पास कैसे हो जायेंगे। पूछों की तब क्या फैल हो ? उत्तर नहीं में मिलता है अर्थात् न पास हैं न फैल। पढ़ते समय या पढ़ाई के अन्त में और परीक्षा देने से पहले विद्यार्थी स्वयं निर्णय नहीं ले या दे सकता कि हम पास हैं या फैल। उसे विश्वास नहीं होता है कि हमारा निर्णय सही है या गलत। इसलिए उसे अपेक्षा होती है दूसरों से निर्णय लेने की। भारतीय संस्कृति में अध्ययन का लक्ष्य योग्यता प्राप्त करना है। प्रचलित शिक्षा पद्धति के पढ़ाई का लक्ष्य मुख्य रूप से पास होना है, योग्य होना गौण है। उस समय मुझे कितनी खुशी होती थी, जब सत्रह नम्बर (अंक) देकर पास घोषित कर दिया जाना था। जब मुझे सत्रह मे ही श्यावासी मिल जाती थी तब मैंने अधिक पाने की कोशिश नहीं की। तैंतीस (33) नम्बरों से फैल हो यह कभी नहीं बताया जाता था।

जीवों के चार भेद होते हैं- भव्य, निकट भव्य, दूरानुदूर भव्य एवं अभव्य। शास्त्रो में आचार्यों का उल्लेख है कि जिसने एकबार समाधिमरण कर लिया उसका संसार परिभ्रमण कम से कम दो-तीन एवं अधिक से अधिक सात (7) आठ (8) भव शेष रहता है। ऐसे जीवों को ही निकट भव्य समझना चाहिए। भव्यो के मोक्ष जाने का काल अनन्त भी हो सकता है, होता है। दुरानूदरभव्य अभव्य के समान होता है। अन्तर विधवा एवं वंध्या स्त्री के समान है अर्थात् एक को निमित्त ही नहीं मिलेगा और दूसरे को निमित्त मिल कर भी समाधिमरण नहीं कर सकता, योग्यता के अभाव में। पहले के दो सम्यग्दृष्टि भी हो सकते हैं और मिथ्या दृष्टि भी, लेकिन शेष दो मिथ्या ही होते हैं। तीसरे को छोड़कर शेष श्रावक भी बन जाते हैं और श्रमण (साधु) भी। भव्य एवं निकट भव्य में अन्तर मात्र मोक्ष देर से और शीघ्र पहुंचने का ही है, बाल स्त्री एवं विवाहित नवयुति के पुत्र उत्पत्ति की तरह। भव्य हों या अभव्य मिथ्यात्व दशा में श्रावक हों या साधु दोनों का लक्ष्य येन-केन प्रकारेण पास होकर योग्यता प्राप्त किये बिना नौकरी प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थी की तरह स्वर्ग प्राप्त कर भोगों को प्राप्त कर लेने का होता है। इसके साथ लौकिक प्रतिष्ठा पाने का न हो ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। सम्यग्दृष्टि श्रावक हो या साधु दोनों का लक्ष्य योग्यता प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करने का होता है। योग्यता प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य होते हुए भी मैं अपने बारे में कह सकता हूँ कि अभी तक मैनें सत्रह नम्बर तक की भी योग्यता प्राप्त नहीं की है। पास-फैल का भी निर्णय नहीं दे सकता।

2. क्या समाधि दिवस महान ? हाँ, मेरी भूलें हैं मुझे ही वरदान।

इस समाधि समीक्षा का आधार लेखक स्वयं होगा, क्योंकि कोई अपने आप से जितना और जैसा परिचित होता है उतना और वैसा अन्य किसी से नहीं। उदाहरण के लिए जिस शरीर में मैं रह रहा हूँ उससे जितना परिचय मुझे है उतना इससे किसी वैद्य या डॉक्टर को नहीं है। निरंतर जुखाम से पीड़ित रहने वाले इस शरीर का निरीक्षण करने के लिए चिकित्सक आते ही रहते हैं उनकी ही सलाह के अनुसार चला जाये तो जो धर्म ध्यान हो जाता है वह भी नहीं हो सकता। आत्मा की अपेक्षा से विचार किया जाये तो इस समय भक्त साधुओं से जितनी अपेक्षाएं रखते हैं या उन्हें अपनी सुविधा के अनुसार चलाना चाहते हैं उतनी अपेक्षाओं एवं सुविधा के अनुसार चलूँ तो समाधि की औपचारिकता तो हो जायेगी समाधि नही हो सकती। कर्म भार हलका होना तो दूर सद्गति होने में भी संदेह है। पुण्य-पाप कर्म की दृष्टि से विचार करें तो अन्य तीनों की अपेक्षा पुण्यानुबंधी पाप का प्रभाव अधिक है। कुछ ऐसे भी छात्र होते हैं जो पढने में होशियार होते हुए भी लापरवाह होते हैं। यही कारण है कि वे असफल भी होते हुए देखे गये हैं या बामुश्किल पास होते हुए। इसका ज्ञान उस समय होता है जब वे लापरवाही छोड पढ़ना प्रारम्भ कर देते हैं। इस परिवर्तन से लोगों को आश्चर्य चकित होते हुए देखा गया है। इस समय अध्ययन के प्रति जो रुझान है और अभी तक उससे जो उपलब्ध हुआ है, हो रहा है, होगा। उससे ज्ञात होता है कि विद्यार्थी जीवन में हमारा अधिकांश समय लापरवाही में निकला है। जिसका परिणाम असफल या मुश्किल से सफलता के रूप में देखा गया है। कुछ ऐसे भी छात्र होते हैं, जो बहुत श्रम करके भी मुश्किल से सफलता प्राप्त कर पाते हैं अर्थात् उनमें ग्रहण एवं धारणा शक्ति कमजोर होती है, लेकिन लापरवाह नहीं होते। विद्यार्थी जीवन में कुछ समय ऐसा भी निकला है, लेकिन मोक्ष मार्ग में अध्ययन के प्रति लापरवाह अभी तक तो नहीं हुए हैं न हैं। भविष्य के विषय में कहा नहीं जा सकता। कुछ ऐसे भी छात्र होते हैं जो पहले अध्ययन में लगनशील होते हैं, लेकिन बाद में लापरवाह हो जाते हैं। मोक्ष मार्ग पर चलते हुए कुछ समय ऐसा भी निकला जब हम आत्महित के प्रति काफी लापरवाह हो चुके थे, लेकिन अब स्थिति संतोषजनक है। आत्महित एवं भाव विशुद्धि में पुण्यानुबंधी पाप सहायक है। इस शरीर के लिए छहों रस अनुकूल नहीं पड़ते। जब कभी असावधानी हो जाये तब भाव विशुद्धि नहीं रहती। अत: समीक्षा का पात्र में स्वयं बनूँ। ऐसा निश्चय से कह सकता हूँ कि यह कृति हमें वरदान सिद्ध होगी अन्य कृतियों की अपेक्षा। नवमाह तक गर्भ में निरंतर मरता ही रहा हूँ। साथ ही जन्म से लेकर करीब बीस-इक्कीस वर्ष तक भी मरता रहा हूँ। जब उपवास आदि करने वालों का यह कहते हुए उपहास करता था कि यह तो आत्मा को

कष्ट देना है। शरीर एवं आत्मा को एक मानने वाला इसके अतिरिक्त कह ही क्या सकता है। ''जे में जितनी बुद्धि उतनी देय बताय, ऐ को बुरो ने मानियों और कहाँ से लाय।'' इस कहावत के अनुसार उपरोक्त सोच वाला में मरता नहीं तब क्या समाधि करता।

''पार्श्वनाथ भगवान और कमठ का उपसर्ग'' उपन्यास के रूप में लिखी पुस्तक पढ़ने मिली। आदि से अन्त तक पढ़ लेने के उपरांत लगा कि वह क्षण लोक मान्य समाधि के समय भी स्मरणीय होगा जब मरण से समाधि की भूमिका बनी थी। उस क्षण ने हमारी उस मान्यता पर पानी फेर दिया कि उपवास करना आत्मा को कष्ट देना है। पुस्तक पढ़ने के बाद विचार आया कि जब एक ओर से दस भव तक बैर चल सकता है तब दोनों ओर से कब तक चलता। ऐसा उन्हीं के साथ नहीं हमारे साथ भी हुआ, हो रहा और कहीं समाधि की शरण नहीं ली तो होता रहेगा। विचारते ही सारे जीवन की गृहस्थ संबंधी रूप रेखाएं/ समस्याएँ/जिम्मेदारियाँ विलीन हो गई। इस घटना से परिचित होने वाले भक्त पूछने लगते हैं - इससे पहले भी कुछ आभास तो हुआ होगा कभी ? नहीं, थोड़ा भी आभास नहीं हुआ। अपितु उस समय भी नहीं हुआ जब कोई अजनबी हमारे परोक्ष में यह कह गया था कि तुम लोग अपने छोटे लड़के की कमाई नहीं खा सकते। जब मुझे ज्ञात हुआ तो उस पर गुस्सा/क्रोध आ गया था। अज्ञान दशा में हुई भूल पर पश्चाताप तो होता है, लेकिन वे भूलें वरदान सिद्ध होगी। कैसे ? इनका उल्लेख यथा समय करते रहेंगे।

3. क्या समाधि दिवस महान ?
नहीं, पापड़ जैसे सिकते देखे हैं विद्वान।

मुनियों के छह कालों में शिक्षा से पहले दीक्षा काल रखा है। भले ही अक्रम से सही घर छोड़ने के बाद गुरु के पास पहुंच कर समय समय पर उनसे निवेदन करता रहता था कि आप मुझे पढ़ायें। उनका कहना था- दीक्षा से पहले शिक्षा नहीं दी जायेगी। क्या पता तुम उसका दुरुपयोग करने लगो। इस रहस्य को जितनी गहराई से इस समय समझा जा रहा है उस समय नहीं समझ सका था। णमोकार मंत्र मात्र का ज्ञान रखकर घर छोड़ने वाला उस रहस्य को उस समय समझ भी कैसे सकता था। समझ तो उस समय से आई जब दीक्षित होने से पहले शिक्षित होने वालों की भी अन्त दशा दयनीय देखी गई, जो उल्लेखनी है।

समाधि का इच्छुक भक्त भगवान से प्रार्थना करता है - ''जागे नहीं कषायें नहीं वेदना सतावे।'' ऐसी ही भावना एवं अभ्यास के परिणाम स्वरूप एक भक्त साधु के विषय में सुना गया है कि अन्तिम तीन दिन तक एक करवट से लेटे रहे, लेकिन अभ्यास के अभाव में समाधि लेने वाले एक ऐसे भी भक्त को देखा है जिसकी दशा सिकते हुए पापड़ जैसी हो रही थी। ऐसी

स्थिति में उसके मुख से वेदना जन्य संकलेश परिणाम स्पष्ट रूप से झलक रहे थे। हर दो पांच मिनिट में करवट बदलने के लिये संकेत मिलता था, सेवकों को। जब तक संकेत करने में समर्थ रहे एवं भक्त समझते रहे तब तक उनकी इच्छानुसार करवटे बदलते रहें, लेकिन जब संकेत की भी सामर्थ्य नहीं रही, तब भक्तों द्वारा उनकी समय समय पर इच्छानुसार सेवा के अभाव में उन पर क्रोधित होना स्वाभाविक है। जब कि वे विद्वान के रूप में जाने जाते थे। शिक्षा के पहले दीक्षा लेने का महत्व ऐसे ही समय में ज्ञात हो जाता है।

वह बात अभी भी हमारे मन में बिजली की तरह कोंध जाती है कि न्याय, व्याकरण जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थों को पढ़ने की तीव्र इच्छा होते हुए भी उन्हें पढ़ाने वाले हम जैसे संयमी विद्वान साधु नहीं मिलते कि साधु बनने से पहले ही उपरोक्त ग्रंथों को पढ़ लिया होता, लेकिन दीक्षा लेने से पूर्व उपरोक्त ग्रंथों का अध्ययन कर लेने वाले सैकड़ों पण्डितों की परम्परा में अपवाद को छोड़ कर समाधि तो छोड़िए दीक्षा लेने का भी मन नहीं बना पाये। अपितु शिक्षा को समाधि का नहीं आजीविका का साधन अवश्य बना लिया। सोचता हूँ यही दशा मेरी भी हो सकती थी दीक्षा के पहले शिक्षा की स्थिति में। वस्तुत: पण्डितों को पश्चाताप होना चाहिए था कि हमने क्रम का उल्लघन किया है, उसका परिणाम ठीक नहीं निकला। लेकिन इन्होंने 'बिगड़ी का नाम फेशन' के अनुसार क्रम के उल्लंघन को सही समझ लिया और उसी की पुष्टी करते हैं। उन्हें वरगलाते हुए जो विशेष रूप में शिक्षा के पहले दीक्षा लेने के इच्छुक रहते हैं। जहाँ एक ओर शिथलाचारी साधुओं की आलोचना करते हैं। वहीं दूसरी ओर विशेष शिक्षा ग्रहण से पहले दीक्षा लेने वाले लोगों को समझाते हैं कि पहले ज्ञान प्राप्त कर लो। ज्ञानियों के शिथलाचार पर लोग अंगुली नहीं उठाते जैसे अज्ञानियों पर उठाया करते हैं। विचारें- इनकी ऐसी शिक्षा देना उचित है या शिथलाचारी साधुओं की आलोचना करना उचित है। हित की भावना न साधुओं के प्रति है, न साधु बनने के इच्छुकों के प्रति और न स्वयं के प्रति। टंकी में भरे पानी के समान गंदा ज्ञान इससे अतिरिक्त और करेगा ही क्या।

वर्तमान में समाज की वैसी दशा भी है, जैसी पण्डितों की सोच है कि शब्द ज्ञानियों के शिथलाचार पर लोग अंगुली नहीं उठाते पर समर्थन कर देते हैं कि कलिकाल है अब ऐसा ही चलेगा या वे हम से तो अच्छे हैं। अल्पज्ञानियों के शिथलाचार पर अवश्य गौर कर लेते हैं। पहुंचे हुए एक आचार्य ने पहुंचे हुए एक पण्डित से कहा- पीछी ग्रहण करो। वे कहने लगे- हमारे गुरु कह गये, 'चरित्र में कितने भी आगे बढ़ो, लेकिन पिच्छी नहीं पकड़ना।' लगता है- भावुता में पिच्छी पकड़ बैठे थे अन्यथा शिष्यों को निषेध क्यों करते। लोक लाज वश पिच्छी पकड़े रहने वाले इनकी समाधि कैसी हुई होगी। इनका कहना था- पहले नमक मिर्च के त्यागी नहीं ज्ञानी बनो।

4. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, प्रतिकूलता में वरदान, है चौथाई ज्ञान।

विशेष ज्ञान प्राप्त न कर सकने की स्थिति में डगमगाते उपयोग को स्थिरता प्रदान करते हुए कुन्द कुन्द आचार्य कहते हैं - ''सुखेन पत् प्राप्तं ज्ञानं दु:खे सति विनश्यति'' अर्थात् सुख सुविधा में रहते हुए प्राप्त हुआ ज्ञान दु:ख आने पर साथ नहीं देता। व्यक्ति धैर्य खो बैठता है जिस धैर्य को नीतिकारों ने साधुओं के कुटुम्ब का एक सदस्य कहा है। मुनि बन कर प्राप्त किया ज्ञान उसका साथ नहीं छोड़ता यह अनुभव की बात है। भक्तों के आग्रह पर एक डॉक्टर स्वास्थ्य का परीक्षण करने आये। आश्चर्य करते हुए कहने लगे ''आपको तीन डिग्री बुखार है और आप अध्ययन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में तो हम लोग बिस्तर नहीं छोड़ते।'' हमने कहा-हमारी तुलना अपने साथ मत करो। गुरुजी का आशीर्वाद एवं साधना का फल है। एकान्त से प्रतिकूलताओं को अभिशाप मानने वालों का बहुमत रहा है। जबकि वे प्रतिकूलताएं वरदान भी हैं। हमारी भी आप लोगों जैसी दशा थी उस समय जब संघ में कोई साधु बीमार हो जाते थे तो शेष साधु चिन्तित हो पहुंच जाते थे गुरुजी के पास। गुरुजी समझाते थे- यह चिंता नहीं चिंतन का समय है, परीक्षा का समय है। अभिशाप नहीं वरदान है। तुम्हें भी सबक लेना चाहिए और उन्हें भी जिन्हें बुखार आया है। आया है कुछ न कुछ सबक देकर जायेगा। न लेना नादानी है।

स्कूलों में तीन, छह एवं बारह माह में परीक्षा होती है और कहीं-कहीं प्रत्येक माह भी होती है। तीन, छह या प्रत्येक माह में होने वाली परीक्षाओं से शिक्षक अनुमान लगा लिया करते हैं कि इस समय यह स्थिति है वार्षिक में क्या होगी ''पूत के लक्षण पालने में'' के अनुसार अपवाद को छोड़ कर विशेष ज्ञानीजन। उपरोक्त भिन्न-भिन्न समय में होने वाली परीक्षाओं की तरह मोक्ष मार्ग में आदि, मध्य, अन्त में होने वाली परीक्षाओं का समय निश्चित नहीं है, अत: जिस समय प्रतिकूलताएं आती है, वही परीक्षा का समय समझना चाहिए और स्वयं निर्णय लेना चाहिए कि इस तात्कालिक परीक्षा में पास (समाधि) हुई है या फैल (मरण) हुआ है। धर्म ध्यान (विशुद्धि) में अधिक समय निकला है या आर्त-रौद्र (संक्लेश) ध्यान में। प्रत्येक कक्षा का विषय निश्चित होता है। इस निश्चिता के आधार पर अनुमान लगाया जाता है या लगाया जा सकता है कि परीक्षा में ये प्रश्न आ सकते हैं। नये भी हो सकते हैं और पिछले वर्ष की पुनरावृत्ति भी हो सकती है, लेकिन प्रतिकूलताओं के विषय में इस तरीके से अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि चार प्रकार के उपसर्गो, बाईस प्रकार परिषह, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा एवं अनगिनतें रोगों में कौन-सी प्रतिकूलता नयी आती है और कोन सी पुरानी। प्रश्न पत्र में लिखा होता है-दस प्रश्नों में से कोई पांच प्रश्न के उत्तर

लिखना है। सुना है, एक ऐसे भी नेता हो चुके हैं जो प्रश्न पत्र में दिये सभी प्रश्नों का उत्तर लिखकर उत्तर पुस्तिका के प्रारम्भ में लिख देते थे- कोई पांच जांच लीजिए। जिनका मात्र पास होने का लक्ष्य होता है या नकल करके पास होने का लक्ष्य होता है वे इस प्रकार की चुनौती नहीं दे सकते। उपरोक्त चुनौती तो योग्यता प्राप्ति का लक्ष्य रखने वाले विद्यार्थी ही दे सकते हैं। सम्भव है ऐसे छात्र अभी मिल जायें, लेकिन प्रत्येक प्रतिकूलताओं को चुनौती देने वाले मोक्षार्थियों का इस देश काल में मिलना असम्भव है।

यह बात अलग है कि प्रारम्भ में अज्ञान परिषह सहना होता है। मोक्ष मार्ग में चलते हुए करीब इन बीस वर्षो में आठ-दस वर्ष ही अध्ययन किया होगा। शेष समय साधना में निकल गया। जितना ज्ञान अभी तक इस अवस्था में रहते हुए प्राप्त किया हो सकता है दीक्षा के पहले बीस वर्ष में प्राप्त करता तो इससे चौगुना प्राप्त कर सकता था, लेकिन जो अनुभूति चौथाई ज्ञान प्राप्त करते हुए हुई हैं वे उस चौगुने ज्ञान के साथ मिलना असम्भव थीं, अपितु लक्ष्य भी छूट सकता था जो सबसे बड़ी क्षति थी। जिसकी पूर्ति इस जीवन में होती भी की नहीं। जिसके सामने ग्यारह अंग का ज्ञान भी कोई मायना नहीं रखता; क्योंकि वह लक्ष्य हीनों को भी प्राप्त हो जाता है। आत्महित के चाहने वालों को यह धारणा छोड़ देना चाहिए कि किसी को गुरु मानकर उससे पढ़ना या शास्त्र सामने रख कर पढ़ना ही शिक्षा हैं, अपितु निर्दोष मूलगुणों के अनुसार रखा गया प्रत्येक कदम शिक्षा है यह भी अनुभव की बात है।

5. क्या समाधि दिवस महान ?
नहीं, अपने अपने पक्ष में, करते खींचातान।

मोक्ष मार्ग में प्रयोजनीय शिक्षा की प्राप्ति वैराग्य होने से पहले हो जाती है या वैराग्य नहीं होने पर भी हो जाती है और वैराग्य प्रयोजनीय शिक्षा से पहले भी हो जाता है। साधु संघ में पहुंचे ऐसे ही एक बालक से उसकी मां कह रह थी - बेटा ! अभी तुम छोटे हो। दीक्षा लेना एवं निवाहना बहुत कठिन है, अतः घर चलो। उसने कहा- तुम तो बड़ी हो। क्यों नहीं ले लेती दीक्षा ? वैराग्य के अभाव में मां के पास कोई जबाव नहीं था समीचीन तर्क का। ज्ञानहीन वैरागी से कोई वैराग्यहीन ज्ञानी कहे अभी ज्ञान प्राप्त करो बाद में दीक्षा लेना। वह कहे-आप तो ज्ञानी हैं दीक्षा क्यों नहीं लेते। वैराग्य के अभाव में इनके पास भी कोई उत्तर नहीं होगा सिवाय कुतर्क के। जिनमें जिज्ञासा है जानने की और उत्सुकता है दीक्षा की वे कभी किसी से लापरवाह नहीं हो सकते अर्थात् शिक्षित होने के बाद दीक्षा के प्रति लापरवाह नहीं हो सकते और दीक्षित हो जायें तो शिक्षा के प्रति लापरवाह नहीं हो

सकते। जिनका दीक्षा का उद्देश्य ही नहीं रहा उनका शिक्षित होने के बाद लापरवाह होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अपवाद को छोड़कर जितने भी पण्डित हुए हैं हमारे ख्याल से उनकी यही दशा रही है। अपवाद इसलिए कि कुछ दीक्षित भी हुए हैं उद्देश्य कुछ भी रहा हो। उसी प्रकार जिनका शिक्षा का उद्देश्य ही नहीं रहा उनका दीक्षित होने के बाद शिक्षा के प्रति लापरवाह होने का सवाल ही नहीं उठता अपवाद को छोड़कर, क्योंकि कुछ साधु ऐसे हैं तत्त्व जिज्ञासा की तीव्र इच्छा है। सम्भावना के आधार पर किसी को किसी चीज से वंचित रखना सर्वथा अनुचित है। अर्थात् कोई साधु किसी से कहे-दीक्षा ले लो पहले, क्योंकि पहले शिक्षा लेने के बाद दीक्षा के भाव नहीं होते। ऐसे साधुओं से पूछना चाहिए कि जिसे दीक्षा के पहले शिक्षित होने से रोका जा रहा है उसके भाग्य में दीक्षा है या नहीं ? यदि नहीं है तो शिक्षित होने से वन्चित क्यों रखा जा रहा है। यदि है तो भयभीत क्यों किया जाता है। उसी प्रकार शिक्षा के पहले दीक्षा लेने वालों को रोकने वालों से पूछना चाहिए कि उसके भाग्य में शिक्षित होना है तो पहले और बाद में कभी भी हो सकता है। एक महानुभाव आग्रह कर रहे थे- महाराज आप इस लड़के को घर जाने की आज्ञा दें और कहें कि यह घर में रहकर कुछ अध्ययन कर ले। हमने कहा- पहली बात यह है कि मैं उसे लेने उसके घर गया नहीं, अंत: जाने के लिए आज्ञा देने का अधिकार हमें नहीं है। दूसरी बात, जितना वह यहाँ रहकर एक वर्ष में प्राप्त कर सकता उतना घर में रहते हुए जीवन भर प्राप्त नहीं कर सकता तुम्हारी तरह। ब्रह्मचारी अवस्था में एक पण्डित जी ने हमारी परीक्षा की हम फेल हो गये। वे अपने साथी वृद्ध ब्र.जी से बोले- क्यों भइया। सुना है आचार्य जी दीक्षाएं दे रहे हैं उनमें इनका भी नम्बर है क्या ? उन्होंने निर्णयात्मक कोई उत्तर नहीं दिया अर्थात् हमारा उपहास किया। हमने पूछा - पण्डितजी ! आपका रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग होगा ? वे बगलें झांकते हुए कहने लगे- दवा, दूध, पानी लेता हूँ। पण्डित जी ! आपने कभी अपना उपहास किया जैसा हम जैसे लोगों का करते हैं। हम अस्सी कम सौ वर्ष के हैं और आप बीस कम सौ वर्ष के हैं। मुझे विश्वास है कि गुरु चरणों में रहते हुए उनकी अनुकम्पा से अपनी कमी/अज्ञानता दूर कर लूंगा, लेकिन आप सम्भव है मरते-मरते तक दूर न कर पायें। शिव भूति मुनि को णमोकार मंत्र के ज्ञान के अभाव में भी केवल ज्ञान हो गया। रात्रि भोजन त्याग न होता तो मुनि क्या श्रावक भी नहीं बन सकते थे केवल ज्ञान की बात दूर। मैं यदि रात्रि भोजन का त्यागी नहीं होता तब दीक्षा तो दूर संघ में प्रवेश भी नहीं मिलता, लेकिन तुम जैसे पण्डितों की दृष्टि में व्यसनी को भी ज्ञान देने में परहेज की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तुम्हारे जैसा शब्द ज्ञान न होने से दीक्षा के योग्य नहीं हूँ, लेकिन गुरु जी की दृष्टि में दीक्षा के योग्य हो चुका हूँ। ब्रह्मचर्य अवस्था में गुरु जी के साथ शाम-सुबह में करीब पैंतीस (35) किलोमीटर मीटर विहार करके आया।

आहार के लिये गया शुरु में ही अन्तराय कर आया। निराहार अवस्था में ही बीस किलोमीटर पुनः चलना हुआ। गुरुजी ने आशीर्वाद दिया पास हो गये। इसके पूर्व शारीरिक अस्वस्थता के कारण शिक्षा के नाम पर कुछ भी नहीं दे सके थे। इतनी कम उम्र में चारित्र की ओर बढ़ते हुए को उनकी तरह आप जैसे विद्वानों के द्वारा प्रोत्साहन मिलना चाहिए न कि हतोत्साहित किया जाना चाहिए।

6. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, बीमारी में दशा होती सियार समान।

पण्डितों की दशा श्याल जैसी होती है। ऐसी लोक मान्यता है कि जब पानी गिरने लगता है तब सियार को घर बनाने की चिन्ता होने लगती है और रुकने पर चिन्ता मुक्त हो जाते हैं। उसी प्रकार पण्डित जब वृद्धावस्था में अस्वस्थ होते हैं, तब समाधि की चिंता होने लगती है और स्वस्थ होने पर चिन्ता मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ही एक विद्वान कुछ दिन पहले हमारे सामने समाधि के विषय में चर्चा करने आये थे। उनका अनुमान था कि करीब दो वर्ष में मैं अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाऊंगा अत: उसके बाद समाधि ले लूंगा। हमने कहा - पण्डित जी ! आप हमसे वयोवृद्ध तो हैं ही ज्ञान वृद्ध भी हैं अत: आप को सलाह देने में हमे हिचकिचाहट होती है। कहने लगे, नहीं आप तो निःसंकोच मार्गदर्शन दें। हमने कहा- हम तो चाहते हैं आप आयु के सौ वर्ष पूरे करें लेकिन यह किसी के वश में नहीं है। आप कभी भी समाधि का संकल्प लें, लेकिन समय से न बंधे और न उसको बांधे। हम समय के आधीन हैं समय हमारे आधीन नहीं है और न उसे किया ही जा सकता है। भीम चौराहे पर खड़े होकर नगाड़ा बजा रहे थे। कह रहे थे - हमारे भइया ने काल को जीत लिया। धर्मराज को मालूम हुआ कि मैनें गलती की है। मांगने वाले को, कल दूंगा कहकर टाल दिया था अर्थात् कल तक के काल को मैंने जीत लिया है। ऐसा ही आपके संकल्प से लगता है कि आपने काल को जीत लिया है। अत: असम्भव बात को छोड़ हर क्षण तैयार रहिए यही उचित है। हमारी सलाह को स्वीकारा या नहीं, लेकिन उस समय वे मौन अवश्य हो गये थे। अस्वस्थ अवस्था में समाधि की चिन्ता होना यह तो फिर भी ठीक है, लेकिन कुछ विद्वानों को प्रत्यक्ष देखा कि उस समय भी समाधि की चिन्ता नहीं होती। मृत्यु तो हर किसी को स्वीकार कर लेती है, लेकिन सौ वर्ष का विद्वान भी मृत्यु को स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता या जुटाने में आना-कानी करता है। आशा लगी रहती है अभी कुछ और भी जिऊंगा। अस्वस्थ होना तो लगा ही रहता है।

न्याय, व्याकरण एवं साहित्य के अधिकारी सौ वर्ष के एक विद्वान ज्योतिष ज्ञान के आधार पर एक दिन कहने लगे - अब मात्र मैं एक वर्ष और जिऊंगा और हुआ भी वैसा

ही, लेकिन आठ माह तक अध्ययन कराते हुए कभी समाधि की चर्चा भी नहीं की कि विधि विधान से समाधि हो जाये। संयमी पुरुषों को शरीर से नहीं संयम से लगाव होता है। जब यह उस में बाधक बनने लगे तो मृत्यु को स्वीकारने में आगे पीछे नहीं सोचते, लेकिन असंयमी लोगों के साथ ऐसा कुछ नहीं होता, क्योंकि असंयम पालने में यह शरीर किसी भी अवस्था में बाधक नहीं होता जिसके लिए मृत्यु को स्वीकारा जाये, अपितु शरीर की सुरक्षा के लिए महा असंयम को स्वीकार लेता है। दीक्षा लेने से पहले शिक्षित व्यक्तियों की दशा देखते हैं तो वह विचार विसर्जित हो जाता है कि दीक्षा से पहले पर्याप्त रूप से शिक्षित हो जाना चाहिए था। अधिकांश लोगों की खाने के विषय में बालकों जैसी स्थिति होती है अर्थात् उनकी खाने की दृष्टि होती है पचाने की नहीं अत: अन्य समय में तो खाते ही हैं अनपच की स्थिति में भी खाते रहते हैं। ठीक यही स्थिति ज्ञान के विषय में असंयमी की होती है, अर्थात् ज्ञान को पचाने, जीवन में उतारने की ओर लक्ष्य ही नहीं होता। शास्त्रों को लादे गधे के समान अनुभवहीन होता है।

दीक्षा लेने से पहले प्राप्त किया जाये या बाद में। ज्ञान उतना ही हमारा है जितना प्राप्त कर जीवन में उतारा जा सके शेष सब पर के लिए है। स्वयं के लिए भार रूप है। यह भार रूप अतिरिक्त ज्ञान उसमें भी बाधक बन जाता है/बन सकता है जिसे प्राप्त कर जीवन में उतारा जा सकता है। केवल ज्ञान के विषय की विशालता तो छोड़िये श्रुत ज्ञान के विषय की विशालता का अनुमान आगम के निम्नलिखित उल्लेख से लगा लिया जाता है कि सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में तैंतीस सागर तक होने वाली चर्चा के विषय की पुनरावृत्ति नहीं होती। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए कुन्द कुन्द देव ने हम जैसे उन साधुओं को संबोधा है जो समय एवं शक्ति के सीमित होते हुए अधिक से अधिक श्रम करना चाहते हैं अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कि श्रुत का कोई पार नहीं है, काल थोड़ा है (अल्प आयु है), हम दुम्मेहा (दुर्बुद्धि) है अत: इतनी ही सीख ले लेना चाहिए जिससे जन्मादि का नाश हो जाये।

II लोकेषण काण्ड

7. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, नाच-गान के बिना करा न पायें जिनवाणी का पान।

पण्डितों का आजीविका में ही अटक जाने की तरह लौकेषणा में अटक जाने वाले साधुओं का शिक्षा के प्रति लापरवाह होना स्पष्ट रूप से देखा जा रहा है। इतना ही नहीं जिसे जीवन में उतारा न जा सके ऐसा प्राप्त किया या किया जा रहा अतिरिक्त ज्ञान लौकेषणा को

सूचित करता है यह भी अनुभव की बात है। महिलाएं बनाये हुए भोजन के विषय में जिसे कराया जा रहा है उससे प्राय: पूछ लिया करती हैं कि कैसा बना अर्थात् प्रशंसा के दो शब्द सुन लेना चाहती हैं, क्योंकि बनाया ही खिलाने वाले के उद्देश्य से है। यह भी अनुभव की बात है कि उपदेश देने के बाद श्रोताओं से ही पूछने की इच्छा हो जाती है कि आप को हमारा उपदेश कैसा लगा अर्थात् उपदेश के माध्यम से अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है- माना कि आप काफी अच्छे वक्ता हैं, क्योंकि प्राय: अध्ययन का उद्देश्य ही दूसरों को सुनाकर वाह वाह लूटने का है। उस समय यह बात दृष्टि से ओझल हो जाती है कि यह उद्देश्य प्रतिपल होने वाली समाधि में बाधक तो है ही अन्त में भी बाधक है। उपदेश श्रोताओं की रुचि के अनुसार होने लगे तब कोर्ष के विषय की उपेक्षा हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे श्रोताओं की संख्या अधिक ही है जो आचार्यों के चिन्तन एवं शैली से हटकर ऐसे दार्शनिक के चिन्तन को उन्हीं की शैली में सुनना चाहते हैं जो स्पष्ट रूप से श्रद्धा एवं चरित्र दोनों से ही हीन रहे हैं अर्थात् श्रोता साधु को बाध्य कर रहे हैं कि तुम अपने कोर्ष के विषय को बांध कर एक कोने में रख दो और उपरोक्त चिन्तन को उन्हीं की शैली में सुनाने का अभ्यास करो, राजनीति नहीं जानते राजनीति सीखो, प्रतिदिन पेपर पढ़ा करो, अंग्रेजी भाषा सीखो। किस दिन, कहाँ क्या बोलना है उसे पहले से तैयार कर लो। कुछ भी बोलो धारा प्रवाह बोलो। समीचीन/हितकर विषय भी कर्ण प्रिय धारा प्रवाह शैली में न बोला जाये तो उसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो उपरोक्त शैली में कुछ भी बोल देने का है। साधुओं की तरह श्रोताओं को भी साधुओं के हित का ज्ञान/ध्यान नहीं है कि ये कोर्ष से हटकर ही चलते रहे तो इन की क्या गति होगी। समाधि करेंगे या मरण।

श्रोताओं के अनुसार उपदेश देने वाले साधुओं के द्वारा हो रही जैसी-कैसी प्रभावना को देखते हुए लोग हमें सलाह देते हैं अनुकरण करने की उन साधुओं का नाम लेते हुए जो पहले उपरोक्त चिन्तकों का नाम या उपनाम लिये बिना उन्हीं की शैली में उनके चिन्तन को श्रोताओं के सामने प्रस्तुत करते थे, लेकिन अब वे नाम नहीं तो उपनाम लेकर प्रस्तुत करने लगे हैं। थोड़ी लज्जा शेष है। एक कवि महोदय फिल्मी तर्ज के आधार पर धार्मिक भजन बनाया करते हैं। किसी ने उनकी शिकायत साधु से कर दी कि ये फिल्म देखते हैं। उन्होंने सफाई दी कि फिल्मी गाने सुनने मात्र से उनके आधार पर वैसे भजन नहीं बना पाता अत: कारण वश देखता हूँ शौक से नहीं। हो सकता है आगे आने वाले समय में आधुनिकता से प्रभावित साधुओं को भी यही उपाय अपनाना होगा। जब आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक एवं मोक्ष की चर्चा को पद्य शैली में फिल्मी तर्ज का, अड़वा-भड़वा गानों की तर्ज का सहारा लेना पड़ रहा है तब आत्मादि की चर्चा को गद्य शैली में सुनाने के लिए फिल्मी डायलाकों का आधार लेना पड़े और उसके लिए साधुओं को फिल्में देखनी पड़ेंगी

कि अभिनेता (एक्टर) कैसा अभिनय (एक्टिंग) करते हुए सम्वाद (डायलाक) बोलते हैं। फिर साधु भी अभिनय करते हुए अपनी बात श्रोताओं के गले उतार पायेंगे अर्थात् कठपुतली बनेंगे श्रोताओं के हाथ की। विश्व में छोड़िए भारत में ही ढेर सारी भाषाएं, शैलियां एवं तर्जों की भी कमी नहीं हैं, तब क्या साधु जिसके जीवन का भरोसा नहीं ऐसे थोड़े समय में उपरोक्त भाषाओं आदि को सीखकर जो जिस भाषा का जानकार हो उसे उसी भाषा में आत्मा आदि की बात बताकर संतुष्ट कर सकता है ? नहीं। गरज श्रोताओं की होती है अत: उसे वक्ता से जो कुछ सुनना/समझना है उसकी भाषा सीखे, शैली समझे।

8. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, देखो उसकी अकल को देता नकल का दान।

नवमीं कक्षा में पढ़ने वाला सहपाठी वार्षिक परीक्षा के समय भी साथ में पढ़ने वाली बहनों को नकल देने जाया करता था स्वयं पेपर करने की अपेक्षा। उसका फैल होना स्वाभाविक था। साथ ही उस स्कूल से हम ग्यारहवीं पास होकर निकल गये लेकिन वह नवमीं से आगे नहीं बढ़ पाया। जिसे स्वयं के पतन की चिन्ता नहीं है अर्थात् जो अपने जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहा हो वह नकल देकर उनका हित चाहेगा या उसकी उनके प्रति अहितकर/कुर्सित भावना छुपी हुई है। उसी प्रकार जो साधु अपने प्रति जरुरत से ज्यादा लापरवाह हो वह दूसरों के उद्धार के प्रति सर्तकता बरतेगा या लौकेषणा जैसी कुत्सित भावना यदा कदाचित् पद विरुद्ध आचरण करके प्रगट कर साधु पद का माखौल उड़ायेगा। अमित गति आचार्य जी कहते हैं- ''संस्तर एवं संग (परिग्रह) इकट्ठा करने की तरह लोकपूजा/लौकेषणा समाधि का साधन नहीं है''। हम यह बात अच्छी तरह समझ रहे हें कि अब हमें ज्ञान अर्जन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो कुछ प्राप्त है उसी को सुरक्षित नहीं रख पा रहे हैं। इसके बाद भी अर्जन की चाह लौकेषणा को सूचित कर रही है।

अनुभव की बात यह भी है कि सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ना प्रारम्भ करते हैं, तो न्याय, व्याकरण जैसे विषय विस्मृत होने लगते हैं और इन्हें पढ़ते हैं तो सिद्धान्त ग्रन्थ भूलने लगते हैं। किसी चीज का अर्जन इतना कठिन नहीं है जितना सुरक्षित रखना। शुद्ध भूख में उदर पूर्ति का ही लक्ष्य होता है, जिव्हापूर्ति का नहीं। उसी प्रकार शुद्ध वैराग्य में आत्म कल्याण का ही लक्ष्य होता है एवं जिम्मेदारी होती है। वैराग्य की सराग दशा में पर कल्याण की भी जिम्मेदारी होती है, लेकिन जहाँ ख्याति, पूजा, लाभ प्राप्ति का ही लक्ष्य रह जाये वहाँ न स्वयं के कल्याण की जिम्मेदारी है न पर कल्याण की। अभिव्यक्ति अवश्य होती रहती है। करता रहता है। जिस समय हमने द्रव्य एवं भाव दीक्षा धारण की थी उस समय गुरुजी से यही प्रतिज्ञा तो की थी कि

मेरा कल्याण हो। जब चारित्र स्वयं कल्याण के लिए धारण किया था, तब शास्त्र पढ़कर या गुरु आदि के मुख से सुनकर ज्ञान प्राप्ति की प्रतिज्ञा आत्म कल्याण के लिए ही की थी यह स्वयं सिद्ध होता है। लिखने का विकल्प तो था ही नहीं, लेकिन संयोग वश लिखा भी तो आत्मकल्याण के ही लक्ष्य से यह भी स्वयं सिद्ध था, लेकिन अनुभव कहता है उपरोक्त प्रतिज्ञाओं में आत्मकल्याण गौण हो गया। क्योंकि अभी तक सोचा, सुना, पढ़ा, लिखा, बोला पर के लिए। यह सब ज्ञान के अनपच का परिणाम है। अभी तक की प्रकाशित समीक्षाओं की जिम्मेदारी प्रकाशकों की थी। लेखक को पूर्ण रूप से प्रकाशन संबंधी विकल्प से मुक्त रहना चाहिए था, लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ। इसका कारण यही अनुभव में आया कि अभी तक जो कुछ लिखा गया दूसरों के लिए स्वयं के लिए लिखा जाता तो लेखन के अतिरिक्त किसी प्रकार की जिम्मेदारी का प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ भी हो अनुभव तो हुआ कि उपरोक्त जिम्मेदारी भी लक्ष्य को डगमगा देने वाली है।

9. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, सामने आते कैमरा तन में निज का ज्ञान।

शिक्षा से पहले दीक्षा हो या दीक्षा से पहले शिक्षा हो इतना विशेष अन्तर नहीं पड़ता जितना दोनों से पूर्व या दोनों में से किसी एक के होने से पूर्व समीचीन श्रद्धान न हुआ हो तो अन्तर पड़ता है। उसी अन्तर को स्पष्ट करते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि पत्रिकाओं के साथ-साथ फोटुओं का युग है जिसके प्रभाव में साधु भेषधारी भी आपाद कंठलीन हैं वीतरागी देवादि के साथ सरागी देवादिकों को श्रद्धा से पूजने वाले बीस पंथी साधु-श्रावक तेरा पंथियों की दृष्टि में मिथ्या दृष्टि माने जाते हैं और बीस पंथियों की दृष्टि में तेरा पंथी मिथ्या दृष्टि माने जाते हैं सरागी देवादि को भी श्रद्धा से न पूजने से, लेकिन फोटुओं के प्रति एकत्व देह के प्रति एकत्व सूचित करता है इस दृष्टि से आपस में कोई किसी को मिथ्या दृष्टि नहीं कहता अर्थात् इसमें दोनों को ही मतभेद नहीं है जैसे सचित्त फल खाने में कोई मतभेद नहीं जैसा की चढ़ाने में है।

छहढाला का उपदेश चल रहा हो "देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है" और उसी समय कैमरा सामने आ जाये तो सावधान की स्थिति में हो जाये एवं फोटो सामने आते ही उसके प्रति आकर्षित हो जाये, ममकार का भाव आ जाये तब स्पष्ट हो जाता है कि तुम्हारी करनी एवं कथनी में कितना अन्तर है। वह इनके उपदेश से प्रभावित होगा जो इनके इस अन्तर को समझ गया हो ? नहीं। निमित्त मिलने पर फोटो के प्रति जब कभी अभिव्यक्त होने वाला आकर्षण मौत को सूचित करता है समाधि को नहीं। जिनकी भक्त

एवं साधु अपेक्षा रख रहे हैं, प्रभावना का अंग/साधन मान रहे हैं, वे कैमरा एवं फोटो दोनों को ही मौत के घाट उतारेंगे. उतार रहे हैं। ये कितने खतरनाक हैं भेद ज्ञानी ही जानते हैं। यथावसर फोटुओं में अपनी पहचान करने वाले मेरे जैसे साधुओं को एवं श्रावकों को अन्त समय में भी वही छवि सामने आयेगी जिसे मैं फोटो या दर्पण में देखा करता था। भेद ज्ञानी माना जाने वाला साधुओं का मन सुबह से शाम और शाम से सुबह में होने वाला शारीरिक विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं/चेष्टाओं को फोटो के रूप में देख लेना चाहता है। इस वैज्ञानिक युग में किसी अवस्था का हो स्थिर रूप देखने में तृप्ति नहीं होती, अत: वह फिल्म के रूप में वीडियो पर चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, बोलते-चालते, सेवा करते-कराते देख लेना चाहता है। स्वयं देख लेने मात्र से भी तृप्ति नहीं होती अत: दुनियां को दिखा देना चाहता है। अपने ही उपदेशों को धार्मिक एवं लौकिक पत्रिकाओं में पढ़कर भी तृप्ति नहीं होती अत: टेप कराके सुन लेना चाहता है।

जैसा की ऊपर कहा जा चुका है कि यह पत्रिकाओं का युग है। विचारणीय है कि जैन समाज में भी नित्य नई पत्रिकायें प्रकाशित हो रही हैं/उद्घाटित हो रही हैं। क्या इन सब की समाज को आवश्यकता है ? नहीं, लेकिन इस युग का साधु भी मान रहा है कि आवश्यकता है। बशर्ते मेरे नाम से/आशीर्वाद से, क्योंकि अमुक साधु के नाम से निकल रही है/निकलने लगी है। उनसे मेरा प्रभाव कम नहीं है समाज में। धर्म प्रभावना की ओट (वहाने) में नाम तो होगा ही एवं प्रभाव के साथ-साथ पूरा-पूरा अधिकार भी होगा। फिर जैसी चाहे वैसी, जितनी चाहें उतनी फोटो प्रकाशित होंगी। लेखों, प्रवचनों एवं स्वयं के द्वारा जगह-जगह एवं समय-समय पर हो रही प्रभावना के समाचार, स्वयं के द्वारा लिखी पुस्तकों पर अपने ही पक्ष में लिखी गई समीक्षाओं को प्रकाशित करने में कोई बाधा नहीं होती जो अधिकार से बाहर पत्रिकाओं में सम्भव नहीं है। उन साधुओं के लिए तो इनकी आवश्यकता अनिवार्य है जो अपने नाम से अपने मार्गदर्शन, अपनी अगुवाई में तीर्थ निर्माण, जीर्णोद्धार कराने में सक्रिय हैं, क्योंकि इनके द्वारा बनाई गई/बनाई जा रही भावी योजनाओं की समय समय पर समुचित सूचना/विस्तृत जानकारी श्रोताओं तक पहुंचाना अनधिकृत पत्रिकाओं से सम्भव नहीं है। क्योंकि वे इनके उपरोक्त कृत्यों से सहमत हों आवश्यक नहीं है।

10. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, 'सरल सागर' सुनते होता नाम में निज का भान।

लक्ष्य से भटका देने वाली अनावश्यक जिम्मेदारी से भयभीत साधु कभी अपने नाम से प्रकाशित होने वाली आजीवन प्रकाशित होने वाली पत्रिका की जिम्मेदारी से अपने

आपको आजीवन मुक्त नहीं रख सकता जो समाधि में बाधक है। अन्य निक्षेपों की तरह 'नाम' भी पदार्थों को जानने का उपाय है उपेय/लक्ष्य नहीं। और यह उपाय उपाय ही तक सीमित नहीं रहा तो वह इसी जीवन में नहीं भव भव में मौत के घाट उतारेगा ही बेमौत का कारण भी बनेगा। दिगम्बर आम्नाय में न जाने कब से नाम बदलने की परंपरा चली आ रही है। डाली तो अच्छी परंपरा है। वरदान है, यदि कोई पूर्व नाम से अपना एक्य/पीछा छुड़वा ले तो अन्यथा पूर्व नाम बदलना नहीं बदलने से ज्यादा अभिशाप हो जायेगा, हमारी तरह। हमें चार नामों से पीछा छुड़ाना है। घर के, स्कूल, क्षुल्लक/ऐलक अवस्था के एवं मुनि अवस्था के नाम से। नाम बदलने का एक उद्देश्य है कि गृहस्थावस्था के नाम के साथ गृहस्थावस्था का जो एक्य वह छूट जाये, लेकिन अनुभव तो यह कह रहा है नया नामकरण हो जाने के बाद भी पूर्वनाम से पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो रहा है। एक जैसे नाम अनेक व्यक्तियों के होते हैं। पूर्व नाम के नाम राशि का नाम किसी के द्वारा लिया/पुकारा जाने पर अतीत की ओर दृष्टि चली जाती है कि मैं भी इसी नाम से पुकारा जाता था। इतना ही नहीं नाम राशि से कुछ आत्मीयता सी आ जाती है। वह नाम राशि पहुंचा हुआ हो तो गौरव का अनुभव होता है। न हो तो हीन भावना होती है। सामान्य हो तो माध्यस्थता भी आती है। पूर्व नाम कानों में आते ही उस नाम से संबंधित सारे अच्छे बुरे कृत्य रील की तरह क्रमशः स्मरण के विषय बनने लगते हैं। ऐसे नाम भी तो रख दिये थे साथियों ने जिनका जानवरों से संबंध है वे भी निमित्त पाकर स्मरण के विषय बन जाते हैं और मन हीन भावना से दूषित हो जाता है। चालू नाम का अपने आप से कितना ऐक्य होता है कि पुकारा जाने पर गाढ़ निद्रा टूट/खुल जाती है।

मुनि बनने के बाद बहुत समय तक मानता रहा कि मेरा नाम राशि कोई मुनि नहीं है। दो वर्ष पहले भक्तों के माध्यम से ज्ञात हुआ कि तुम्हारे नाम राशि एक साधु बन चुके हैं। सुनकर प्रसन्नता नहीं हुई। लगा कि ऐसा नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अनगिनतें नाम और भी तो हैं उनमें से भी रखा जा सकता था। उनके गुरु से परिचित हुआ तो अनुमान लगा लिया कि जान बूझ कर रखा होगा। भ्रम की स्थिति किसी न किसी रूप में निर्मित हो ही जाती है। जब नाम राशि साधु की उद्दण्डता, उश्रृंखलता प्रकाश में आई तो वह नाम राशिपन काफी अखरने लगा। उस नाम राशि साधु से अपरिचित एवं हमारे नाम, शकल और आचरण से परिचित लोग तो भ्रम में पड़ गये और हमारे नाम से परिचित थे या नहीं भी थे जिन्हें यह भी मालूम नहीं था कि एक जैसे नाम के दो साधु हैं। उनकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया ने काफी कुछ सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि लोक व्यवहार चलाने में साधक होता हुआ यह नाम प्रतिक्षण एवं अन्त में होने वाली समाधि में कितना घातक है। नाम के साथ इतनी आत्मीयता नहीं होती तो एक नहीं सैकड़ों नाम राशि साधु हो जाते और

कैसा भी आचरण करते कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला था। ग्यारवीं कक्षा पढ़ते थे। उस कक्षा में उस समय हमारे ही जैसे नाम के चार सहपाठी और भी थे लेकिन उस समय विशेष कोई अन्तर नहीं पड़ता था जैसा इस समय पड़ता है।

पिच्छी-कमण्डल-शास्त्र इनके समान 'नाम' भी एक उपकरण है जिसका व्यवहार मोक्ष मार्ग से संबंध है निश्चय से नहीं। अहिंसा एवं काय शुद्धि के लिए ग्रहण किये जाने वाले पिच्छी-कमण्डल फैशन की चीज बन गये अर्थात् दिखने में मनोज्ञ होना चाहिए वैसे भी उपरोक्त उपकरण अन्त समाधि में बाधक हैं। साथ ही उन के निमित्त से होने वाले आये समय राग द्वेष समाधि ही नहीं है। नाम ने भी कबर की तरह फैशन का रूप ले लिया आगे स्पष्ट करेंगे।

11. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, अस्थाई परिचित, परिचय में आ जाती मुख पे मुस्कान।

समाधि में बाधक इस नाम निक्षेप के माध्यम से साधु दुनियां भर में परिचित/चर्चित हो जाना चाहता है। जितना स्वयं परिचित हो सकता है दूसरों से, उतना दूसरों का परिचय नहीं पा सकता। कारण कि पहुंचे हुए लोगों को बहुत लोग जानते हैं, लेकिन वह बहुतों को नहीं जानता, न जान सकता है। किसी से परिचित होना इतना अभिशाप नहीं जितना किसी का परिचय प्राप्त करना। यह अनुभव की बात है कि जो दूसरों का जितना परिचय प्राप्त करता जाता है वह अपने आप से उतना ही दूर होता जाता है। मोक्ष मार्ग पर चलते हुए करीब इन बीस वर्षो में हमने दूसरों का जितना परिचय प्राप्त किया है यही समय अपने ही परिचय के लिए दिया होता तो स्थिति कुछ और ही होती अर्थात् हरक्षण समाधि ही होती जो अन्त समाधि में अच्छी तरह सहायक होती। घर में रहते हुए मैं अपना इतना ही परिचय प्राप्त कर पाया था कि "मैं जैन हूँ", लेकिन इस मार्ग में आने पर जैन समाज में भी, फसल में कूरे-कचरे के समान, अनेक फिरकों से ज्ञात हुआ कि जैन के अलावा मैं और कुछ भी हूँ। जहाँ भी विहार हुआ नहीं चाहते हुये भी इन फिरकों से परिचित होता रहा और नहीं चाहते हुए भी मानसिकता उलझती गई। अभी भी नहीं सुलझ पा रही है। जगह जगह फिरकों में बटी समाज के बीच रहते हुए अन्त तक मानसिकता सुलझ सकेगी यह कहा नहीं जा सकता। जगह-जगह विहार करते रहने से स्थान से परिचय न हो ऐसा कैसे हो सकता है यह तो नहीं चाहते हुए की बात है। और कहीं चला करके प्राप्त हुआ परिचय तो देश का तो हुआ ही विदेशों का भी हुआ है।

कोई किसी से नाम के साथ साथ शक्ल से परिचित होता है, कोई किसी से नाम से

परिचित तो होता है, लेकिन शक्ल से परिचित नहीं होता, कोई किसी से शक्ल से तो होता है नाम से नहीं होता और कोई किसी से दोनों से परिचित नहीं होता। अधिक से अधिक लोगों से परिचित होता हूँ या अधिक से अधिक लोगों का परिचय प्राप्त करता हूँ तो बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। आये समय होने वाले जन संसर्ग से होने वाली समय की बर्बादी एवं होने वाली राग-द्वेष की परिणति पर विचार करता हूँ तो पश्चाताप भी कर लेता हूँ। इसके बाद भी वैसे जन संसर्ग से पीछा नहीं छुड़ा पाता। नाम मात्र से परिचय हो जाने पर संतोष कहाँ होता है अत: उस नामधारी से परिचित होने की इच्छा हो जाती है। किसी की शक्ल देखने पर उसके नाम से भी परिचित हो जाने की इच्छा होने लगती है। जिस समय अपरिचित लोग आकर यह कहते हैं अभी तक तो आप का नाम सुनते रहते थे, लेकिन आपके दर्शन का सौभाग्य आज मिला। बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा सुनकर मैं भी गदगद हो जाता हूँ। हमारे नाम से अपरिचित व्यक्ति दर्शन करते हुए या करने के बाद किसी से हमारा नाम पूछने लगें कि कौन से महाराज है, तब सोचता हूँ- देखो कितना ख्याति प्राप्त हूँ फिर भी इन्हें मेरा नाम मालूम नहीं है। परिचित होने पर किसी किसी के चेहरे से लगता है कि वह शक्ल देखकर यह सोच रहा है कि नाम/काम तो बड़े सुने थे लेकिन दर्शन छोटे समझ में आ रहे हैं। कुछ के नाम तो गुणों या शक्ल के अनुरूप होते हैं अर्थात् सार्थक होते हैं और कुछ निरर्थक भी होते हैं, अर्थात् गुणों या शक्ल के अनुसार नहीं होते। शायद ही है ऐसा कोई गांव जहाँ दस-पांच दिन रुके हों और आचरण देखकर लोगों के मुख से यह सुनने न मिला हो-'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार सार्थक नाम दिया है आपको आपके गुरुजी ने। अपेक्षाकृत चर्या देखकर यह भी कहते हुए सुना गया है लोगों के मुंह से की 'सरल' की जगह 'कठोर' नाम दिया जाना चाहिए था। दोनों ही प्रकार के लोगों के विचार सुनकर मन गदगद हो उठता है। इतना ही नहीं पुन:पुन: सुनने को उत्सुक हो उठता है। उपरोक्त विचारों को सुनकर सबक लिया जाये तब तो ठीक हैं कि मुझे नाम के अनुकूल ही आचरण करना है अन्यथा लक्ष्यच्युत कर देगा यह नाम का चक्कर।

12. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, उपाधि समाधि में अन्तर, है दिन-रात समान।

नाम शुभ हों या अशुभ अर्थात कर्ण प्रिय हों या अप्रिय जब ये भी समाधि में बाधक हैं। तब उनके साथ लगाई जाने वाली उपाधियाँ तो काल कूट हैं अर्थात् अकाल मौत का कारण हैं। किसी ने कहा है- आधि, व्याधि एवं उपाधि जहाँ लगी हुई हैं वहाँ समाधि नहीं हो सकती। आधि (मानसिक बीमारी) व्याधि (शारीरिक बीमारी) इतनी खतरनाक नहीं है

जितनी उपाधि अर्थात् इससे वचना उन दो की अपेक्षा बहुत कठिन है। देखा यह जाता है कि अजेय स्पर्शन एवं रसना इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले भी उपाधियों के सामने घुटने टेकते रहते हैं कि 'अन्यथा शरणं नास्ति उपाधि शरण मम'। वर्तमान मुनियों के नाम के आगे लगने वाली '108' यह उपाधि कब से, क्यों लगना शुरु हुई इसका कोई ठोस प्रमाण पढ़ने में आये अभी तक के किसी ग्रंथ में नहीं मिला। हजारों वर्ष पूर्व आचार्यों द्वारा रचित किसी भी ग्रंथ में उनके नाम के आगे '108' इस उपाधि का उल्लेख किसी भी अनुयोग के ग्रंथों में पढ़ने को नहीं मिला। इससे सिद्ध होता है कि यह उपाधि अभी कभी की है। सभी दिगम्बर साधुओं के नाम के आगे लगाई जाने वाली यह उपाधि सामान्य है। अत: विशेष रूप से अहित कर नहीं। इस उपाधि के लगाने की अपेक्षा कुछ भी रही हो, लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्वेत पट एवं भगवा वस्त्र धारियों ने इसका अंधानुकरण अवश्य किया है। इस अंधानुकरण में पीछे नहीं आगे निकल गये '108' की जगह '1008' उपाधि लगी ली। 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' के अनुसार उपहास का ही कारण है।

व्यक्तिगत रूप से कई एक साधुओं के नाम के आगे लगी करीब आधा पेज की लम्बी उपाधियाँ भोले साधुओं के लिए अहित कर हैं जो जरुरत से ज्यादा प्रशंसा सहन नहीं कर सकते। शरीर की अवस्था को लेकर प्रशंसा अभिव्यक्त करने वाली उपाधि है 'युवाचार्य' अर्थात् युवावस्था में ही आचार्य जैसा उच्च/श्रेष्ठ पद पा लिया। शेष युवा मुनियों को नीचा दिखा कर प्रशंसा प्रगट करने वाली उपाधि है यह। 'युवा मनीषी' भी एक वैसी ही उपाधि हे जो युवावस्था में·ही विशेष ज्ञानी होने का गौरव प्राप्त कर प्रशंसा प्रगट करती है अल्पज्ञ मुनि युवकों को नीचा दिखा कर। 'ज्ञानं दिवाकर' भी ऐसी ही दूसरों को नीचा दिखाने वाली उपाधि है। आचार्य रत्न, आचार्य शिरोमणि, सन्त शिरोमणि, आर्यिका रत्न, क्षुल्लक रत्न आदि उपाधियाँ शेष आचार्य आदि को नीचा दिखाकर अपने आपको गौरवान्वित करने वाली उपाधि हैं। वाक्कला को लेकर अनेकों उपाधियाँ प्रचलित हैं। प्रवचन पटु, प्रवचन कुशल, स्वर सम्राट, प्रवचन सम्राट, प्रखर प्रवक्ता आदि। जो साधु ऐसे नहीं हैं उन्हें नीचा दिखाने वाली हैं। यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जब युवा साधु प्रौढ़ या वृद्ध हो जायें तब क्या युवाचार्य, बालाचार्य, युवा मनीषी आदि उपाधियाँ लगी रहेंगी या अवस्थानुसार परिवर्तित होती जायेंगी ? यदि वे ही उपाधि लगी रहें तब प्रौढ़ या वृद्धावस्था में युवा कहना शोभा देगा ? नहीं। यदि छूटेगी तब क्या उसके स्थान पर प्रौढ़ाचार्य या वृद्धाचार्य उपाधि लगाई जायेंगी ? यदि हाँ तो ऐसी उपाधि आज तक सुनने में नहीं आयीं कि किसी ने किसी को दी हों और उन्होंने ग्रहण की हों। क्योंकि कोई विशेषता बाल, युवावस्था में ही प्रशंसनीय है अन्य अवस्था में नहीं। कुमार से श्रीमान, कुमारी से

श्रीमति अवस्था के अनुसार बदल जाते हैं। उसी प्रकार युवा से प्रौढ़ से वृद्ध हो जाने पर उपाधि बदलती हैं तो आगे आने वाली पीढ़ी को पहचानने में भ्रम हो सकता है कि ये वे ही आचार्य हैं या कोई दूसरे। अवस्था कृत इस उपाधि से आत्मा का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अधिक से अधिक समाधि कराने वालों को 'समाधि सम्राट' की उपाधि से विभूषित कर दिया जाता है। अब विचारना है कि समाधि का जो साधन नहीं है ऐसी लोक पूजा में तो नहीं अटका वह साधु अन्यथा गले का फंदा बन जायेगी 'समाधि सम्राट' यह उपाधि। नदी में पुल जैसी दशा होगी उस साधु की। दूसरों को पार करने में निमित्त वह स्वयं संसार रूपी उपाधि में अटका रह जायेगा।

उपाधियों के इस युग में अधिक से अधिक दीक्षाएं देने वालों की 'दीक्षा सम्राट' की उपाधि मिलना स्वाभाविक है भले ही वह योग्य -अयोग्य किसी को भी दीक्षा देवे। अधिक से अधिक तीर्थ निर्माण, तीर्थ उद्धार एवं जीर्ण उद्धार करने वाले को तीर्थोद्धारक आदि उपाधियों से वन्चित कैसे रखा जा सकता है। 'जैन संस्कृति संरक्षक' भी तो एक उपाधि है। उपरोक्त कृत्य करने वालों को उनके नाम के साथ वैसी उपाधि न लगाई जाये तो उन्हें स्वय को और आगे आने वाली पीढ़ी को प्रोत्साहन कैसे मिलेगा ? समाधान यह है कि चिरकाल से चली आ रही साधुओं की परपरा में उनके नाम के साथ 'आत्मोद्धारक' उपाधि पढ़ने अथवा सुनने में नहीं आई। आ भी कैसे सकती है, क्योंकि साधु का अर्थ ही आत्मोद्धारक है। फिर उसके नाम के साथ उपरोक्त उपाधियों की संगति कैसे बैठ सकती है। नाम की तरह उपाधियों की कोई संख्या निश्चित नहीं होती। कोई भी जब चाहे जिस किसी को जैसी चाहे उपाधि बना कर गले मे लटका सकता है। नाम एवं उपाधियों की अंधी दौड़ में सबसे आगे नहीं तो सबसे पीछे सही हूँ अवश्य, ऐसा मैं मानता हूँ अर्थात् इस बीमारी से सर्वथा अछूता नहीं हूँ।

13. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, अल्पतम-अपमान बहुमत का बहुमान।

ईमानदारी से शिक्षा देने की भावना रखकर कार्य करने वाला शिक्षक भी उनकी नकल करने के लिए मजबूर हो रहा है जो चार हजार रूपये वेतन पाकर भी अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाह हैं। ऐसे ही लोगों की दृष्टि में वह मूर्ख माना जाता है जो लापरवाही बरतने में इनकी नकल न करें। बेईमानों का बहुमत हो तो ईमानदारों की नहीं चलती जैसे ईमानदारों के बहुमत में बेईमानों की नहीं चलती। ऐसे ही एक ईमानदार शिक्षक कह रहे थे- महाराज ! मैं त्याग पत्र देना चाहता हूँ, क्योंकि मुझे मुफ्त का वेतन लेने में बड़ी लज्जा का

अनुभव होता है। हमने कहा- तुम्हारे मात्र त्याग पत्र दे देने से तुम्हारे साथी लापरवाही छोड़ देंगे। समझदारी तो यही है कि आपके प्रभाव में वे आप जैसे ही हो जायें।

अधिकांश साधुओं ने समाज में इस प्रकार का वातावरण निर्मित कर दिया है कि प्रतिफल समाधि की भावना से ओतप्रोत रहने वाले साधु उनकी नकल न करें तो प्रभावहीन दृष्टि से देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए- चातुर्मास आदि के लिए किसी साधु ने पत्रिका छपवाने में अगुवाई न की हो या छपने से मनाकर दिया या साधारण सी छपी हो, तब प्रत्येक कार्य की अगुवाई करने वाले साधु व वहाँ की समाज सोच ही लेती है कि अमुक साधु प्रभावहीन है या समाज आर्थिक दृष्टि से कमजोर है या कंजूस है या मूर्ख है। उपरोक्त साधु एवं समाज की लापरवाही पर समाधि की भावना से ओतप्रोत साधु का स्थाई रूप से समीचीन प्रभाव छोड़ना बहुत कठिन है। अपितु लापरवाहों की ही दृष्टि से देखे जाते हैं। समाज तक ही सीमित होने से पत्रिकाओं एवं आमंत्रण पत्रिकाओं का तो फिर भी सम्मान हो भी जाता है, लेकिन इन्हीं पत्रिकाओं के विषय को लौकिक समाचार पत्रिकाओं में प्रकाशित होने पर क्या दशा होती है प्रसंगवश विचारणीय है। आज तक किसी पत्रकार को बुलाकर उससे यह नहीं कहा कि मेरे द्वारा किया गया आज, कल या कभी भी हुए या आगे होने वाले प्रवचन का या मेरे द्वारा लिखे इस लेख का अमुक लौकिक या धार्मिक समाचार पत्र में प्रकाशन होना चाहिए। पत्रकारों के द्वारा निवेदन करने पर भी स्पष्ट मना कर दिया कि मैं अपनी ओर से लौकिक समाचार पत्रों में कुछ भी नहीं देता, लेकिन उनके द्वारा हमारी बिना अनुमति के छाप देने पर सर्वथा निषेध तो दूर कि यह गलत हुआ है अपितु माध्यस्थता भी नहीं रखी। प्रसन्नता ही व्यक्त की जिससे उन्होंने समझ लिया कि 'मने भावे मूड़ डिगावे' वाली कहावत लागू हो रही है।

14. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, खेद व्यक्त करते देख व्यंग्य करता मुसलमान।

एक मुनि महाराज का फोटो सहित प्रवचन से छपे समाचार पत्र को सड़क पर से उठाते हुए एक जैन लड़के ने दूसरे से कहा- देखो अपने महाराज का फोटो, प्रवचन यहाँ पड़ा हुआ है। एक मुसलमान भाई कहता है- हजारों, लाखों की मात्रा में छपते हैं कहाँ-कहाँ से कब-कब उठाकर दुःख व्यक्त करोगे। उस समाचार पत्र की दशा से अवगत कराता हुआ उसे उसी साधु के सामने रखे तब साधु अपनी क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करेगा। क्या अविनय को देखते हुए खेद व्यक्त करेगा ? यदि वास्तविक में खेद व्यक्त करता है तो धर्म प्रभावना की आढ़ में हो रही या कर रहा अपनी प्रभावना का ही रास्ता बंद होता है।

यदि खेद व्यक्त करने के बाद भी प्रभावना का वही क्रम बना रहता है तब खेद व्यक्त करना एक प्रकार का पाखण्ड ही कहलायेगा। यदि खेद व्यक्त नहीं करता है, तब सफ़ाइ तो देनी ही होगी- कि लोग इनकी विनय न करें तो इसमें हमारा या छापने वालों का क्या अपराध। अविनय हो इस भाव से तो छपवाता नहीं कोई। या फिर यह कहना होगा कि इस प्रकार की अविनय पर गौर करते बैठे रहे तो कौन जानेगा कि जैन धर्म क्या चीज है। इस विषय में दी गई ऐसी सफाई जिनवाणी के प्रति अश्रद्धा के साथ-साथ ख्याति, पूजा, लाभ रूप लौकेषणा की चरम सीमा को सूचित करती है। स्कूलों, कॉलेजों में पाठ्य पुस्तकों से अविनय पूर्वक ग्रहण की जाने वाली शिक्षा से कौन परिचित नहीं है। जिसने पंद्रह बीस वर्ष तक उसी तरीके से शिक्षा प्राप्त की हो और संयोग वश साधु बन गया हो तब वैसी अविनय पूर्वक ग्रहण की हुई शिक्षा के संस्कार तो होंगे ही। ऐसी स्थिति में वह शास्त्रों के विनय का कितना ध्यान रखेगा यह उपरोक्त घटना से ज्ञात हो गया। प्रभावना अंग धारी सम्यग्दृष्टि भले ही वह उपरोक्त शिक्षा से संस्कारित क्यों न हो अविनय मय प्रभावना को प्रभावना नहीं मानेगा।

देखा ही जाता है- पुजारी हो या पण्डित पैसा मिलने की आशा न हो तो अपने कार्य को उतने उत्साह से नहीं करता जितना की पैसे की आशा से उत्साहित हो करता है या इच्छित धन न मिला हो तो किये हुए परिश्रम को निष्फल समझता है भले ही उस कार्य से सैकड़ों/हजारों लोगों ने लाभ लिया हो। ठीक यही स्थिति या इससे भी बढ़कर स्थिति नाम के विषय में होती है। नाम के लिए किया गया तन, मन, धन से कोई कार्य नाम न होने पर निष्फल समझा जाता है या नाम होने की आशा न हो तो उस कार्य में अनुत्साह का होना स्वाभाविक है। धन एवं नाम दोनों के मिलने के उद्देश्य से किया गया कार्य धन न मिले नाम मात्र हो जाने पर संतोष कर लिया जाता है। एक कवि महोदय कह रहे रहे थे- किसी प्रोग्राम में धन न मिले इसकी चिन्ता नहीं है। समाचार पत्रों में नाम सहित कार्यक्रम की सूचना निकल जाये अभी इतना ही पर्याप्त है, क्योंकि समाचार पत्रों में नाम आ जाने पर जो एवं जैसी प्रसिद्धि होगी वह एवं वैसी खाली धन के मिलने पर नहीं हो सकती है। जबकि पेट धन से भरना है नाम से नहीं। इसमें भी काफी दूरदर्शी होते हैं लोग-समाचार पत्रों के माध्यम से प्रचार होगा, अधिक से अधिक प्रोग्राम मिलेंगे तब धन तो मिलेगा ही।

नाम का कितना आश्चर्यजनक प्रभाव है कि नाम के चाहने वालों की समालोचना करते हुए समालोचक पर भी अपना रंग जमा दिया करता है अर्थात् समालोचना करते हुए यह नाम बिजली की तरह कोंध जाता है कि समालोचक के नाम से जाना जाऊंगा। अधिक से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हों तो दुनियां भर में नाम होगा। बचपन से ऐसे ही तो संस्कार

डाले जाते हैं, डाले गये हैं, उन लोगों का नाम लेते हुए जिन्होंने पढ़ लिखकर परोपकार के कार्य करके अपना नाम कमाया है, कि बेटा पढ़ लो अच्छे नम्बरों से पास हो जाओगे तब इनाम तो मिलेगा ही समाचार पत्रों में तुम्हें अपना नाम पढ़ने मिलेगा। तुम्हें वैसा ही नाम कमाना है जैसा अमुक नेता ने कमाया है। हम समझते हैं ऐसे ही संस्कार इन्हें संस्कार कहें या कुसंस्कार प्रत्येक साधक को समाधि में रोड़े अटकाते हैं। लौकिकता में भले नाम का प्रलोभन दिये जाने वालों की उन्नति में साधक बन सकता है, लेकिन मोक्ष मार्ग में हर किसी साधक की समाधि में साधक बने यह कोई आवश्यक नहीं है।

"तेल जले बाती जले होय दिया को नाम" जब कभी ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं तभी यह कहावत हम ही पर लागू हो जाती है। लोगों के पुण्य का उदय आता हैं उन्हें लाभ होता है। पाप का उदय होता है हानि होती है। हानि होने पर तो नहीं, लेकिन व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से लाभ होने पर भक्त लोग इसका श्रेय साधुओं के ऊपर लगा देते हैं। कुछ समय से हमारे साथ कुछ ऐसा ही हो रहा है। पिछले दिनों वेमौसम बरसात से इस गांव में जहाँ हमने चातुर्मास किया उसके चारों ओर ओले एवं अनिष्ट जल वृष्टि हुई, लेकिन यहाँ ऐसा कुछ नहीं हुआ, अपितु सामान्य वर्षा हुई जिसमें हानि कम लाभ अधिक हुआ। लोगों ने इस का कारण मुझे माना। जब कभी व्यक्तिगत या सामूहिक लाभ का श्रेय मुझ पर छोड़ा जाता है तब मैं अपने आपमें प्रसन्नता का अनुभव किये बिना नहीं रहता। जब विवेकदृष्टि से विचार करता हूँ तो लगता है कि मेरी दशा/स्थिति जड़ दीपक के सामन ही जड़ है या उससे भी बत्तर। तेल और बाती के जलने पर भी लोग भले ही दीप जलने की बात कहें, लेकिन दीपक के प्रसन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भक्ति के वश भक्त अपने लाभ का श्रेय हमें दें, लेकिन हमें सैद्धांतिक दृष्टि से विचार का माध्यस्थ रहना चाहिए।

III प्रशंसा काण्ड

15. क्या समाधि दिवस महान ?
दिखा न सके दीनता, दिखा सके अभिमान।

तथा कथित चमत्कारों की, चमत्कारों में विश्वास रखकर सत्यासत्य का निर्णय करने वालों की यथावसर मैं आलोचना करता रहता हूँ लेकिन स्वयं मेरे अन्दर चमत्कारों के प्रति कितना आकर्षण है इसका पर्दाफाश (भण्डाफोर) करना भी आवश्यक है। हो सकता है इनका पर्दाफाश होने पर इनसे पीछा छूट जाये।

चमत्कार के अभाव में मंदिर एवं मूर्तियों की उपेक्षा (तोड़ देने) करने वाले मुसलमानों में और चमत्कार के ही अभाव में वीतरागी देवादि की उपेक्षा कर सरागी देवादि की अपेक्षा रखने वाले जैनों में क्या अन्तर है। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये जिस किसी की उपासना, सेवा करने वाले अधिकांश जैनेतर हिन्दुओं में और अधिकांश जैनों में क्या अन्तर है जो अपने स्वार्थ से जैनेतर साधुओं की तरह जैन साधुओं को चमत्कार दिखाने के लिये अथवा चमत्कारी बनने के लिये प्रेरित करते हैं। लगता है ये उन्हें मृत्यु के लिये ही प्रेरित करते हैं समाधि के लिये नहीं। जो साधु चमत्कार दिखा सकने में ही साधु होने की सार्थकता समझते हैं अथवा दिखा सकने पर 'अभिमान' और न दिखा सकने पर दीनता दिखाते हैं या सफलता पर अभिमान एवं असफलता पर दीनता प्रगट करते हैं वे समाधि नहीं मौत में विश्वास रखते हैं। चिरकाल का अनुभव कहता है - पग-पग पर चमत्कार दिखाने के लिये प्रेरित करने वाले अंध भक्तों से भरे इस समाज में प्रेरणा से बच निकलते रहना साधु के दृढ़ संकल्पी होने पर निर्भर है और यह दृढ़ संकल्प नाम की चाह से परे (दूर) रहने पर ही सम्भव है। चमत्कार इसलिये तो दिखाया जाता है कि मेरा नाम हो। यह प्रेरणा भी तो देता है वैसा करने के लिये। चमत्कारों में विश्वास रखने वालों के लिये धर्म प्रभावना एक बहाना तो होता ही है, इसलिये तो इसके दुष्परिणामों पर गौर नहीं किया जाता।

करीब आठ वर्ष पूर्व एक ज्योतिषी महानुभाव हमसे ज्योतिष सीखने का आग्रह कर रहे थे। अब हम सोचते हैं - कहीं उनका आग्रह स्वीकार कर लिया होता तो जो विवेक इस समय जाग्रत हुआ है वह निश्चित रूप से नहीं होता और अपने आप से कितनी दूर हो गया होता जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ज्योतिष भी चमत्कार का ही रूप है। नाम भी एक प्रकार का लोभ है जो जुए में हारे-जीते धन की तरह चित्त को स्थिर नहीं होने देता। हारने पर जीतने की धुन सवार रहती है और जीतने पर और जीतने की। दोनों स्थितियों में अन्य दूसरे व्यसनों की प्रेरणा अलग मिलती रहती है। ज्योतिष के आधार पर कोई बात सत्य निकल आई तो दुनियाँ में नाम अन्यथा बदनाम। नाम होने पर नित्य नई घोषणाएं/भविष्यवाणी की सोचेगा। बदनाम होने पर उस पर पानी फेरने के फिराक में रहेगा अर्थात एकाद भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध करने की कोशिश करेगा। दीनता एवं अभिमान के दिनों से गुजरने वाला मौत के ही मुँह में गुजरेगा समाधि का दिन देखने नहीं मिलेगा। यदि कोई बात पढ़ने, देखने एवं सूनने में आई, तब दूसरों के पढ़ाते दिखाते एवं सुनाते समय सुनने वालों का इसमें हित होगा यह अभिप्राय गौण रहता है। मुख्य अभिप्राय रहता है सुनने वाले मेरी प्रशंसा करेंगे, मेरा नाम होगा। यह तो आम बात है। ज्योतिष की बात बताने पर की जाने वाली प्रशंसा को पचा सकना वीतरागता के बिना या कर्तव्य समझ कर किये बिना सम्भव नहीं है।

16 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, चमत्कार में उपादेयता मृत्यु के निशान।

जाग्रत अवस्था की ही नहीं, स्वप्न दशा में भी कुछ ऐसी बातें आती है जो इस काल में जागृत दशा में सम्भव नहीं। उदाहरण के लिये स्वप्न दशा में आकाश में निराधार जब कभी भी हम उड़ते रहते हैं। स्वप्न की इस बात को अधिक समय अपने तक सीमित नहीं रखा जा सका और व्यक्ति विशेष से या सामूहिक रूप से कई बार पूछा क्यों आपने/आप लोगों ने अपने आप को कभी स्वप्न में उड़ते देखा ? इसी उद्देश्य से पूछता हूँ कि लोग सुनकर आश्चर्य करेंगे। उत्तर मिलता है कि हम तो कभी स्वप्न में नहीं उड़े, तब तो प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता कि जब मेरे अलावा किसी ओर को ऐसा नहीं होता तब तो इस कलि काल में चमत्कार ही समझना चाहिये। ऐसा मैं स्वयं सोच लेता हूँ।

अस्वस्थता के कारण दिन में लेटा हुआ था। परिचित आवाज कानों में आते ही नींद खुल गई। जैसे ही उठकर बैठा लम्बी श्वास लेकर छोड़ते हुए। उन्होंने पूछा - आप कुछ थके हुए से मालूम पड़ते हैं। हमने कहा - अभी तक तो रात्रि के स्वप्न में ही अपने आप को उड़ता हुआ देखता था, लेकिन आज दिन के स्वप्न में उड़ रहा था। थकूंगा क्यों नहीं। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया। हमने पूछा-अभी तक इसका कारण समझ में नहीं आया। आप बतायेंगे। उन्होंने कहा - आप विशुद्धि बढ़ाते रहिये स्वयं समझ जायेंगे। अभिप्राय कुछ भी रहा हो उसका हमने तो समझा कि भविष्य के अच्छे संकेत हैं। लोगों से इसी स्वप्न के विषय में यह जिक्र भी कर लेता हूँ प्रशंसा पाने के उद्देश्य से कि आज में स्वप्न में उड़ रहा था तब कह रहा था कि देखो अभी तक मैं स्वप्न में ही उड़ा करता था लेकिन आज जाग्रत अवस्था में उड़ रहा हूँ। स्पष्ट है इन बातों से चमत्कारों के प्रति उपादेयता है।

मुझे अच्छी तरह से याद है - सन् 87 चातुर्मास से पहले ही इस चमत्कार रूप एक अन्य व्याधि से ग्रसित हो गया था। पाद प्रक्षालन के समय थाली में एवं आहार होने के बाद चोकी (पाटे) पर घर-घर में पैरो के चिन्ह अंकित होने की बात घरों तक ही सीमित न रहकर हमारे कानों तक आ गई। गाँव तक सीमित न रहकर समाचार पत्रों के माध्यम से दूर-दूर तक पहुँच गई। इस बात को सुनकर गुदगुदी का अनुभव हुआ, लेकिन इतने से संतुष्टी नहीं हुई अत: इस खुशी एवं चमत्कार की बात पर गौर न करने का अभिनय अवश्य किया और लोगों से कहा - कलिकाल में ऐसा कुछ नहीं होता अत: इस प्रकार की अपवाहें नहीं फैलाना चाहिये। लोगों ने पैरों के चिन्ह से अंकित पाटे, थाली को हमें ही दिखाना प्रारम्भ कर दिया। हमने कहा-पैरों में तेल लगाया होगा भक्तों ने उसके निशान

होंगे। वे निरमा से सफाई की सफाई देने लगे। हमने कहा - आपकी बात मान भी ली जाये तो यह विशेषता साधु और उनके पैरों की है या आप जैसे भक्तों की या इस चौकी की ? कहने लगे - आपके पैरों की। तब तो प्रत्येक पाटे पर ऐसा होना चाहिये। लेकिन ऐसा तो होता नहीं। कहने लगे - चौकी या भक्तों की विशेषता है तो प्रत्येक भक्त के यहाँ चौकियों पर होना चाहिये। एक भक्त कहने लगे - एक हाथ से ताली बजती नहीं है। हमने कहा - तब हमें ही इसका श्रेय क्यों दिया जा रहा है ?... खैर भक्ति के वश में ऐसा होता भी है, लेकिन इसे विवेक पूर्ण भक्ति नहीं कहते। कैसे ? जो कुछ भी हुआ उसे अपने तक सीमित रखना चाहिये। अपने तक सीमित न रखना यह सूचित करता है कि हम दुनियाँ के मुँह से वाहवाही लूटेंगे/सुनेंगे कि हमारे यहाँ या हमारे गाँव में चमत्कार हो रहा है। जिसके निमित्त से हो रहा है वे तो पुण्यात्मा हैं ही हम भी वैसे ही हैं, लेकिन इस कृत्य का साधु के ऊपर क्या दुष्प्रभाव होगा यह दिमाग में ही नहीं है। हुआ भी यही - जहाँ भी गया इस बीमारी ने पीछा किया। अभी कुछ समय से राहत है। कभी-कभी अभी भी भूतों की तरह परेशान करने लगती है। देखो अन्त तक क्या होता है।

17 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, चिन्ता नहीं धर्म, गुरुओं की होता मैं बदनाम।

नाम के माध्यम से प्रसिद्धि पाने के लिये न जाने कितने खुरापात सूझते रहते हैं। निरन्तर अध्ययन में उपयोग लगे रहने पर भी निम्नलिखित कोरी कल्पनाएं करता रहता हूँ, लेकिन जब मन उचाट होगा उस समय क्या स्थिति होगी।

जब किसी साधु की किसी विशेषता के विषय में सुनता हूँ तो सोचता हूँ - यह विशेषता मेरे में होना चाहिये थी ताकि में सर्वगुण सम्पन्न के रूप में दुनियां में जाना जाता। कभी सोचता हूँ - व्यंतर देवों के सहयोग से या किसी तरह हममें ऐसी कुछ योग्यता आ जाये कि असाध्य रोग से पीड़ित या व्यंतरों से पीड़ितों को पिच्छी मात्र रखकर स्वस्थ कर दूँ। उस समय कितनी दीन-हीनता का अनुभव होता है स्वयं में, जब कोई उपरोक्त बाधाओं से पीड़ित व्यक्ति सामने आते हैं और हम कुछ भी नहीं कर पाते कोरी सान्त्वना देने के अलावा। उस समय की दीन-हीनता का क्या कहना जब लोग आक्षेप करते हैं कि कैसे करें जैन धर्म/जैन गुरुओं पर विश्वास जो हमारे दु:ख-दर्द को थोड़ा थी दूर न कर सकें। 'कर्म का उदय है, धैर्य रखो' इतना कह देने मात्र से होता क्या है ऐसे आक्षेपों के आगे मैं ही नहीं, दृढ़ संकल्पी भी घुटने टेक देंगे। किसी अन्य साधु की तो नहीं कह सकता, लेकिन

मेरी यह सोच गौण होती है कि जैन धर्म/जैन गुरुओं का नाम बदनाम हो रहा है, अपितु मैं बदनाम हो रहा हूँ कि कुछ नहीं कर पा रहा हूँ। सामने वाला दु:खी है इसकी चिन्ता न के बराबर है, नाम बदनाम के आगे। आक्षेप करने वालों को मूर्ख समझता था विवेक जागृत होने पर मालुम हुआ कि दीनता प्रगट करने वाले तुम उनसे दो कदम आगे हो।

हमेशा इसी फिराके में रहता हूँ कि भद्रबाहु श्रुत केवली की तरह भविष्य में आने वाले भूकम्प जैसे अनिष्ट की सूचना देकर लोगों को सचेत कर दूँ। इसी अभिप्राय से कि मेरा नाम होगा लोग अनिष्ट से बच जायेंगे यह बाद की बात है। अनिष्ट की सूचना न दे सकने से पहले अनिष्ट हो जाने पर बदनामी का अनुभव करता हूँ पश्चाताप करते हुए। लोग मर गये हैं सोचता हूँ - ऊं मरना जीना तो लगा हुआ है। आक्षेप भी होता है कि इतना बड़ा हादसा हो गया ये महात्मा करते क्या हैं। कहते तो ज्ञानी हैं अपने को।

इस फिराक में भी रहता हूँ कि किसी निकट भक्तों का अपार धन का खजाना/भण्डार बता दूँ, जमीन में गढ़े मूर्ति/मंदिर बता दूँ, जगह-जगह मेरे सानिध्य में होने वाले धार्मिक आयोजनों में देवों द्वारा चमत्कार दिखा दूँ, जमीन के अन्दर छुपे बहुमूल्य खनिज पदार्थों का पता अपने निकट भक्त या सरकार को बता दूँ। सरकार को इस शर्त पर बताऊं कि तुम्हें शराब की दुकानें, कारखाने, कत्लखाने बंद करना होंगे, देश को कर्ज से मुक्त करना होगा इत्यादि अथवा इन्हीं शर्तो पर किसी पार्टी को चुनाव में जिताकर या बिना चुनाव के देवीय शक्ति के बल पर प्रधान मंत्री जैसे पद पर आसीन कर दूँ क्योंकि विश्वविख्यात होना है अर्थात दुनियाँ में नाम होगा।

यह भी सोचता हूँ कि अपने निकट भक्त किसान को बता दूँ कि अमुक जगह कुँआ खोद लो बहुत पानी निकलेगा या अमुक अनाज बोओ बहुत पैदा होगा। किसी व्यापारी निकट भक्त को कहूँ अमुक अनाज इतने समय बाद बहुत महंगा हो जायेगा अत: अधिक से अधिक संग्रह कर लो। नि:संतानों को संतान पैदा होने लगे ऐसा उपाय बता दूँ। शेखशिल्लियों जैसे मनसूबे/खुरापात क्यों सूझते रहते हैं, क्योंकि मेरा नाम होगा अन्यथा विराग दशा में इन सबसे क्या प्रयोजन है। लगता है उपरोक्त उपायों को बताने में और उनका उनमें लग जाने में होने वाले हिंसादि पाप नाम के आगे कोई मान्यता न रखते हों। उपरोक्त उपायों को बताने की योग्यता प्राप्त हो भी जाये तब आत्म साधना में बाधक ही है विष्णु कुमार मुनि की विक्रिया ऋद्धि के समान। अन्तर इतना ही है कि वे वात्सल्य से प्रेरित थे नाम से नहीं।

18 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, मियांमिट्ठू सा कर लेता अपना ही गुणगान।

मूर्ख के छह लक्षणों में पर की निंदा एवं स्वयं की प्रशंसा करना ये दो लक्षण भी हैं। सामने वाला अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा अपने मुँह से कर रहा होता है तो सोचता हूँ यह उसकी मूर्खता का लक्षण है, लेकिन यथावसर उपरोक्त दोनों कार्य मैं स्वयं कर रहा होता हूँ तब मुझे अपनी मूर्खता का आभास नहीं होता। अपितु इतना अवश्य होता है कि कोई क्या कहेगा ऐसा दूसरों का भय रहता है कर्मबंध और उसके फल प्राप्ति का भय नहीं रहता है। दूसरों के द्वारा की जा रही अपनी प्रशंसा सुनने में रुचि रखता हो तो वह ठीक नहीं है। वैसा स्वयं के विषय में नहीं। अपनी प्रशंसा करना जितना अपराध माना जाता है उतना सुनना नहीं। कोई भी क्रिया/कार्य अपना कर्तव्य समझकर किया जाने पर या अच्छी तरह से किये जाने पर स्वयं प्रशंसा करने का या दूसरों के द्वारा की जाने पर सुनने का भाव/रुचि ही नहीं होती और प्रमाद वश न किये जाने या अच्छी तरह से न किये जाने पर कोई क्या कहेगा ऐसा भाव ही नहीं आता। चार हाथ जमीन देखकर चलना हमारा कर्तव्य है। लेकिन जिस समय हम चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं उस समय हमें देखने वाले हमें देखकर अच्छा समझें अथवा न समझें, अच्छा कहें अथवा न कहें, किन्तु हम तो समझ ही लेते हैं कि लोग हमे अच्छा समझ रहे होंगे कि ईर्यापथ समिति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। कहीं-कभी प्रमाद वश ईयापथ का उल्लंघन हुआ तो कोई क्या कहेगा या लोग क्या कहते होंगे यही भाव आते हैं। कर्मबंध हुआ होगा या जीव हिंसा हुई होगी यह भाव नहीं आता। निर्दोष अर्थात् हित, मित, मिष्ट भाषा समिति के अनुसार हुई वचन प्रवृत्ति से दूसरों का हित होगा, हुआ या हो रहा है यह भाव गौण। मुख्यता तो यह है कि वाणी में चमत्कार है ऐसा लोग कहें भले ही न सोच अवश्य लेता हूँ।

केश लोच करते हुए मुझे एक जैनेतर भाई भी देख रहा था। जैनियों पर आक्षेप करते हुए कहने लगा - ये बनियाँ बहुत सूम (कंजूस) होते हैं। बताओ बाबा जी हाथ से बाल उखाड़ रहे हैं। कितनी तकलीफ हो रही होगी। आठ-बारह आने देकर नाई से नहीं निकलवा सकते क्या ये जैनी लोग। मुनियों के इस मूल गुण को अन्य गुणों की अपेक्षा काफी महत्त्व दिया जाता है। इस गुण की वास्तविकता न समझने वाले उपरोक्त भाई की बातों को सुनकर उसकी मूर्खता पर हँसने वाला मैं, मुझे सोचना है कि साठ-पेंसठ बार केश लोच करके भी उसकी वास्तविकता को समझ पाया हूँ क्या। केश लोच करना सार्थक हो इसके लिये कितनी अपेक्षायें लगी हैं जिनमें कुछ का उल्लेख तो 'आचार्य समीक्षा' में

किया जा चुका है। जब पहली बार केश लोच किये थे। करते हुए देखकर गुरु जी ने कहा था - पूर्व पर्याय के संस्कार हैं। इस बात का जब कभी जिस किसी के सामने प्रगट करके मिया मिट्ठू बन जाता हूँ। लोच की वास्तविकता स्वाधीनता एवं शरीर से उदासीनता की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

IV प्राइवेट परीक्षा काण्ड

19 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, प्राइवेट परीक्षा लेना-देना जिनको एक समान।

जिस समय स्कूल में पढ़ते थे उस समय परीक्षा में वही बैठ सकता था जिसने शासकीय नियम के अनुसार विद्यालय में वर्ष में एक निश्चित समय तक उपस्थित रहते हुए अध्ययन किया हो अन्यथा वह परीक्षा में बैठ नहीं सकता, अत: उपस्थिति अनिवार्य है। प्राथमिक शाला में कक्षा प्रारम्भ से अन्त तक एक कक्षा का एक ही शिक्षक होता है, अत: उपस्थिति की जानकारी लेना एक ही बार आवश्यक है। लेकिन माध्यमिक शाला से लेकर विश्वविद्यालय तक कालखण्डों (पीरियड) के आधार पर अध्ययन होता है, अत: प्रत्येक कालखण्ड में उपस्थिति की जानकारी लेना अनिवार्य है। एक दो आदि कालखण्डों में उपस्थित न रहने पर पूरे दिन की अनुपस्थिति मानी जाती है। छात्रों की सुविधा को देखते हुए शिक्षा पद्धति में परिवर्तन होते ही रहते हैं। कुछ विषय ऐसे होते हैं, जिन्हें प्रतिदिन विद्यालय जाकर शिक्षकों से पढ़े जा सकते हैं। महाव्रत एक ऐसी साधना है जिनकी साधना गुरुओं के निकट एवं उनके मार्गदर्शन में ही सुचारु रूप से हुआ करती है। कुछ ऐसे भी विषय होते हैं जिन्हें छात्र स्वयं भी पढ़ लिया करते हैं और स्कूलों में जाकर भी पढ़ते हैं। अणुव्रत व्रत भी एक ऐसी ही साधना है जो घर में एवं गुरुओं के सानिध्य में भी की जाती है।

प्रमादवश या किन्हीं कारणों से जिनका प्रतिदिन विद्यालय जाकर पढ़ना असुविधाजनक या असम्भव है, लेकिन पढ़ना चाहते हैं, उनकी सुविधा की दृष्टि से प्राइवेट परीक्षा देने की छूट शिक्षा अधिकारियों ने दे रखी है अर्थात् घर में ही स्वयं से या कैसे भी पढ़ो और परीक्षा देने मात्र आ जाओ, लेकिन प्राइवेट परीक्षा देकर पास होने वालों को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना रेगुलर पढ़कर परीक्षा देकर पास होने वालों को दिया जाता है, इसलिये रिश्वत के इस युग में एक दिन भी विद्यालय नहीं जाने वाले भी अपनी प्रतिदिन की उपस्थिति सूचित कर देते हैं, किन्तु मोक्ष मार्ग में ऐसा होना तो सम्भव नहीं है कि अन्त समय में समाधि लेने पहुँचा कोई साधक दुनियाँ के सामने यह सूचित कर सके

कि चिरकाल से निरन्तर संघ में रहते हुए साधना कर रहा हूँ। ऐसा सूचित करने की कोशिश करे भी तो ऐसा लगेगा जैसे कोई विद्यार्थी नकल करते हुए परीक्षा दे रहा हो। जब हम नकल करते हुए उत्तर लिखते थे परीक्षा देते हुए, तब परीक्षक को समझने में परेशानी नहीं होती थी की यह अक्ल से लिख रहा है या नकल कर रहा है, क्योंकि उनके सामने आते ही हमारी लेखनी रुक जाती थी और पीठ पीछे पुनः चलने लगती। प्रयास तो बहुत करते थे दिखाने का कि हम अक्ल से लिख रहे हैं। साधना के अभाव में समाधि लेने वालों की ठीक यही स्थिति होती है स्वयं आँखों से देखा है। अस्वस्थ अवस्था में हम स्वयं संक्लेश की स्थिति में भी बनावटी विशुद्धि का प्रदर्शन करते हैं। समाधिस्थ साधक को देखा है जब उनसे कहा जाता था आचार्य श्री आ रहे हैं तो ये संक्लेश की स्थिति में विशुद्ध भाव का प्रदर्शन करने लगते थे।

सुविधानुसार प्राइवेट परीक्षा बाप-बेटे एक साथ बैठकर देते हुए सुने गये हैं, लेकिन एक साथ विद्यालय मे बैठ पढ़ते हुए नहीं सुने गये, न देखे गये। शोभा भी तो नहीं देता। विद्याध्ययन की योग्यता पांच वर्ष पूरे होने पर ही मानी जाती है समाधि साधना का प्रारम्भ होना वैराग्य पर निर्भर करता है और इसका कोई निश्चित समय नहीं होता। हो सकता है पिता-पुत्र दोनों को एक साथ वैराग्य हो जाये अतः एक ही संघ में पिता-पुत्र दोनों साधनारत हो जायें यह अशोभनीय नहीं माना जाता स्कूल में पढ़ने की तरह। हो सकता है एक साथ संयोग वश परीक्षा में भी बैठ जाये। जब हम प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उस कक्षा में अठारह-बीस वर्ष का विद्यार्थी भी पढ़ता था। जानने की जिज्ञासा किस उम्र से हो जाये कहा नहीं जा सकता। समय पर शिक्षा की इच्छा होते हुए भी परिस्थितियाँ भी मजबूर कर देती हैं, उससे वन्चित कर देती हैं। अधिकाँश को तो समय पर चूकने पर अंत तक इच्छा नहीं होती। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

20 क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, तर्क की कसौटी पर कसते हैं विद्वान।

अब उन कारणों पर विचार करें जिनके कारण लोग प्राइवेट परीक्षा देने के लिये मजबूर होते हैं - एक विद्वाम वृद्ध महोदय से कहा - दीक्षा धारण करो। कहने लगे - हम तो प्राइवेट परीक्षा देंगे। पूछा-क्यों ? कहने लगे - हम जिस संघ में प्रवेश पाना चाहते हैं, उसमें हम वयोवृद्धों को प्रवेश वर्जित है। निवेदन करने पर यही सलाह मिली है कि आप तो सीधे समाधि लेने/परीक्षा देने के लिये चले आना। कारण नहीं पूछा ? पूछा था। उत्तर मिला प्रवेश की योग्यता नहीं है। वृद्धावस्था में विहार के योग्य जगह-जगह पर भक्त लोग

नहीं हैं जहाँ आहार, निहार की निर्दोष व्यवस्था हो सके। हमने पूछा - अन्य संघों में प्रवेश न लेने का कारण ? कहने लगे - उनमें परीक्षा लेने की योग्यता नहीं है। वहाँ परीक्षा देने की अपेक्षा घर में रहना ही अच्छा है। वहाँ परीक्षा देने का कोई औचित्य नहीं है। जहाँ रहकर जो पढ़ना/साधना करना ही नहीं चाहता वहाँ परीक्षा देना अर्थात् समाधि लेना ही क्यों चाहेगा। जो स्वयं लौकेषणा में अटककर शक्ति के रहते/अनुकूलताओं के रहते आगम विरुद्ध आचरण कर रहें हैं अर्थात् स्वयं फैल हैं वे क्या परीक्षा लेंगे/समाधि में सहायक बनेंगे? उपरोक्त संघों के साधुओं/आचार्यों की दशा नकल के बल पर पास होकर शिक्षक बने लोगों जैसी है। सरकार को निर्व्यसनी सदाचारी शिक्षकों की ही आवश्यकता नहीं है अंग्रेजों के समय से ही, लेकिन अब योग्य शिक्षकों की ही आवश्यकता नहीं है। हमारे देखते एक समय वह भी था जब लोगों की दृष्टि में साधुओं में सदाचार ही मुख्य था, लेकिन अब साधुओं में सदाचार गौण एवं ज्ञान मुख्य हो गया उनकी दृष्टि में जो सरकार की उपरोक्त दृष्टि/नीतियों से प्रभावित हैं। लगता है - इस समय ज्ञानहीन सदाचारी साधुओं को भी समाधि करने का अधिकार नहीं है।

वृद्ध महोदय कहने लगे- हम जानते हैं कि जिस प्रकार प्रतिदिन विद्यालय में जाकर पढ़ने या वहीं रहकर पढ़ने का जो महत्व एवं सार्थकता है वह घर में रहकर पढ़ते हुए परीक्षा देकर पास होने का नहीं। उसी प्रकार गुरुओं के मार्गदर्शन मे उनके साथ रहते हुए समाधि लेने का जो महत्व एवं उसकी सार्थकता है वह घर में रहकर उनके निकट समाधि लेने का भी नहीं है फिर घर में ही समाधि लेने की बात दूर है। जैसे कहीं भी रहकर पढ़ने वाले ने स्कूल में जा कर परीक्षा न दी हो उसकी पढाई का सरकार की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। इतना ही नहीं, व्यक्ति कितना भी योग्य क्यों न हो, लेकिन उसे अभिव्यक्त करने वाला प्रमाण पत्र न हो तो उसकी योग्यता का कोई मूल्य नहीं है उसी प्रकार यह तो निश्चित है कि बिना मुनिभेष के मुनिव्रत की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, ग्यारहवीं प्रतिमा की अभिव्यक्ति क्षुल्लक भेष के बिना नहीं हो सकती। शेष प्रतिमाओं की किसी में योग्यता होते हुए भी भेष के बिना समाज की दृष्टि में उस की योग्यता की कोई कीमत नहीं। योग्यता के अभाव में जिस किसी तरह प्रमाण पत्र पा जाने वाला सरकार की दृष्टि में योग्य तो है ही उसी की दृष्टि में उच्च पदों का अधिकारी भी हो जाता है। उसी प्रकार अभव्य जैसे अयोग्य व्यक्ति अर्थात भेष धारण कर लेने वाला अयोग्य व्यक्ति भी समाज की दृष्टि में योग्य तो माना ही जाता है नव ग्रवेयक जैसे उच्च पद को प्राप्त कर लेता है। पढ़ने का उद्देश्य नौकरी प्राप्त करने वाले छात्र के समान जिस साधु की साधना का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्त करना है वह उपलनाव है।

हमने कहा- अधिकांश लोगों के प्राइवेट परीक्षा देने का उद्देश्य मात्र डिग्री प्राप्त कर कोरी योग्यता का प्रदर्शन करना होता है। आप प्राइवेट परीक्षा देना चाहते हैं। आपके विषय में कैसे समझा जाये कि पराधीनता की सूचक नौकरी के समान पराधीन स्वर्ग सुख चाहते हैं या मोक्ष सुख? कहने लगे- यह कोई जरुरी नहीं है प्राइवेट परीक्षा डिग्री और नौकरी प्राप्ति के लिए ही दी जाती है। योग्यता प्राप्त हो जाये कभी भी काम आ सकती है।

21. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, देखो तो लगा लेते हैं व्रति होने का अनुमान।

वृद्ध महोदय आगे कहने लगे- प्रयोजनीय शिक्षा के साथ-साथ अनुशासन की शिक्षा के लिए विद्यालय होते हैं लेकिन देखा उल्टा ही जा रहा है- ये विद्यालय बालकों में उद्दण्डता एवं युवकों की चरित्रहीनता में कारण बन रहे हैं। यह सब देखते हुए सभ्य परिवार के लोग धर्म संकट की स्थिति में हैं। स्कूल, कालेजों में बालक-बालिकाओं, युवा-युवतियों को नहीं भेजने पर उचित व पर्याप्त शिक्षा से वंचित रह जाते हैं और भेजने पर चरित्रहीन होने का भय बना रहता है। स्कूल, कालेजों एवं शिक्षकों की तरह इस समय के संघों एवं आचार्यों की दशा दिख रही है एवं स्कूलों में पढ़ने वालों की तरह संघ में पहुंचने वालों की दशा दिख रही है कि भेष धारण कर लेने के बाद चरित्र में नहीं मान कषाय में वृद्धि हो जाती है जब सर्व साधारण को तो हीन दृष्टि से देखते ही हैं साथ ही हम जैसे वयोवृद्ध पण्डितों को भी हीन दृष्टि से देखने लगते हैं। इतना ही नहीं अपने से चरित्र श्रेष्ठ प्रभावहीन साधुओं को भी हीन दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी स्थिति में हम जैसे सैकड़ों, हजारों साधक धर्म संकट की स्थिति में होते हैं कि घर में रहकर अभ्यास करने से निर्दोष समाधि में साधक उन अनुभूतियों से वन्चित रह जाते हैं जो निर्दोष संघों में रहते हुए साधना करने से प्राप्त होती हैं। संघों की स्थिति को देखते हुए लगता है पहुंचने पर "आये थे हरि भजन को ओंटन लगे कपास" यह लोकोक्ति हम पर भी लागू न होने लगे जैसे कि आत्म सिद्धि के लिए निकले साधुओं पर प्रसिद्धि में अटक जाने पर लागू हो रही है। अपवाद को छोड़ कर सर्वत्र देखा जा रहा है।

ऐसे विद्यालय कम ही होते हैं जो छात्र के फैल होने पर वे उन्हें वहाँ नहीं रखते। अधिकांश दुबारा अवसर देते हैं उनकी मूर्खता नहीं किसी मजबूरी के कारण। अधिकांश ऐसे भी हैं जो किसी के फैल होने पर निकालना तो दूर उन्हें भी रख लेते हैं जिन्हें मूर्खता के कारण अन्य स्कूलों से निकाल दिया गया हो, क्योंकि इन्हें उनके हित से नहीं पैसों से मतलब है। जिस संघ में हम प्रवेश पाना चाहते हैं वहाँ जिसे ब्रह्मचारी भेष के योग्य भी नहीं समझा जाता उसे अन्य संघों में सीधे मुनि बना दिया जाता है। वहाँ भी अभिप्राय उसके

हित का नहीं, अपितु अधिक से अधिक दीक्षा देकर वाह वाह लूटने का है। ऐसे साधुओं की व्यवस्था के लिए संग बटोरने वाले गुरुओं के लिये अमितगति आचार्य जी की यह पंक्ति बिल्कुल विपरीत है कि ''न संस्तरों भद्र समाधि साधनं न लोक पूजा न च संघ मेलनं''। आगे कहने लगे-जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं हुआ और तप (दीक्षा) ग्रहण कर लेने वाले उपरोक्त साधुओं को मान शिखर पर चढ़ते हुए देखा गया है और प्रतिकूलता में आग बबूला होते हुए देखा है। प्राइवेट परीक्षा देने के लिए उपरोक्त सभी कारण बाध्य करते हैं।

हमने कहा- मान एवं क्रोध की उपरोक्त दशा सम्यग्दर्शन के पहले ज्ञान प्राप्त कर लेने वालों की भी होती है। क्षमा धर्म पर व्याख्यान दे रहे पण्डित जी से एक श्रोता ने कहा- पण्डित जी ! क्रोध तो आप भी करने लगते हैं कभी-कभी। सुनते ही क्रोध की सीमा नहीं रही। पुतला निकलना ही शेष रह गया। कहने लगे- नालायक, नास्तिक, मिथ्यादृष्टि , तद्भव नरकगामी। चला जा यहाँ से, अब कभी नहीं आना हमारी धार्मिक सभा में। ऐसी स्थिति में मान कषाय न हो कौन विश्वास करेगा। साधुओं की दशा को देखते हुए हम आपकी बात से पूर्ण सहमत हैं। क्रोध और मान के आधार पर लोग गृहस्थों में व्रती होने का अनुमान लगा लेते हैं। साथ में विहार कर रहे भक्त लोगो ने पास के गांव पहुंच कर एक वृद्ध महोदय को समाचार दिया कि महाराज आये हैं, स्कूल में रुके हैं। अनुत्साहित मे कहने लगे- उसके यहाँ जाओ उनसे कहना। भक्तों ने कहा- आप साथ चल कर उनका घर बता दो। कहने लगे- हमारी उनसे बोला-चाली नहीं है। भक्तों ने आपस में विचार किया। लगता है- दादाजी व्रती हैं। पूछने पर अनुमान सही निकला। सात प्रतिमाधारी थे।

22. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, समय-समय समन्वय, समस्या समाधान।

पूर्व की अपेक्षा वर्तमान में दिनोंदिन बदलती हुई परिस्थिति को देखते हुए यह एकांत छोड़ देना चाहिए कि पहले दीक्षा ही होना चाहिए, क्योंकि उपरोक्त क्रम या मान्यता के अनुसार चलने के परिणाम इस समाज में अच्छे नहीं देखे जा रहे हैं। अज्ञान दशा में दीक्षा देने, दिलाने, लेने और उससे होने वाली क्रियाओं से सारा साधु वर्ग उपहास एवं उपेक्षा का शिकार हुआ है। ऐसे साधु समाधि के नाम पर मात्र शरीर छोड़ते हुए देखे सुने गये हैं। साधु एवं श्रावक धर्म को जिन्होंने अच्छी तरह से समझ लिया हो, समाज एवं शरीर की दशा से अच्छी तरह परिचित हों। तीनों का सामंजस्य बैठ जायेगा, का निर्णय करके दीक्षा लेना सफल हो सकता है।

श्रोताओं से जब कभी भी पूछते रहते हैं- ''यथा प्रजा तथा राजा या यथा राजा तथा प्रजा ?'' लोगों ने जो सुन रखा है वही तो उत्तर के रूप में बता देते हैं, लेकिन हमारे व्यक्तिगत

विचार से प्रजातंत्र में पहली एवं राजतंत्र में दूसरी युक्ति लागू होती है, किन्तु इस समय प्रजा की जो स्थिति है, उससे लगता है वह प्रजातन्त्र के योग्य नहीं है। स्पष्ट रूप से प्रजातंत्र के साथ धर्म निरपेक्षता का भी दुरुपयोग हो रहा है। दीक्षा पहले होना चाहिए या शिक्षा, इसका उत्तर वही है कि जिस समय अलग से मुनि एवं श्रावक धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती थी। जैन कुल में पैदा होने वाले को श्रावक धर्म को पालते हुए देखकर उसका ज्ञान स्वयं हो जाता है जैसे वणिक् में पैदा होने वालों को वणिक् वृत्ति का ज्ञान देख देखकर स्वयं हो जाता है। साथ ही श्रावक धर्म का संकल्प पूर्वक पालन करे अथवा न करे आचरण में श्रावक धर्म तो रहता ही था। सेवक भी तो निस्वार्थी थे। ज्ञानी साधु की ही अपेक्षा एवं अज्ञानी साधुओं की उपेक्षा की भावना नहीं थी। लेकिन इस समय जिस घर में श्रावक धर्म के कोई संस्कार नहीं है उस घर में किसी को वैराग्य हो जाये तो श्रावक धर्म की शिक्षा दीक्षा से पहले अनिवार्य है अन्यथा अज्ञानमय आचरण से छुटकारा एवं स्वार्थी सेवकों की उपेक्षा से छुटकारा पाया नहीं जा सकता। जो साधुओं के साथ होने वाले पक्षपात से परिचित हैं ऐसे किसी अनपढ़ वृद्ध महोदय से दीक्षा लेने के लिए कहा जाये तो वह अपनी एक ही कमी बताता है कि मैं पढ़ा लिखा हूँ नहीं क्या करुगा दीक्षा लेकर, कौन देगा खाने।

राजतंत्र में राजा भी प्रजा के आश्रित रहता है किन्तु इस समय जितना आश्रित है उतना उस समय नहीं था, अत: सारी जिम्मेदारी प्रजा की हो जाती है कि हमे कैसा रहना चाहिए जिससे कि जिसे हमने राजा बनाया है वह निष्पक्ष शासन् कर सके। अपवाद को छोड़कर साधु भी समाज के आश्रित रहे हैं, लेकिन जितने इस समय हैं, होते चले जा रहे हैं उतने चतुर्थ काल एवं पंचम काल के बीते काल में अधिकांश समय तक नहीं रहे। ऐसी स्थिति में समाज/भक्तों की ही जिम्मेदारी विशेष रूप से रह जाती है जिससे साधु उचित रीति से समाज का मार्गदर्शन कर सकें। इस समय की अधिकांश जनता चाहती है कि हम कैसे भी चलें हम पर अंकुश लगाने की आवश्यकता नहीं है। हमने गद्दी पर बैठाया अत: मनमानी नहीं कर सकते। जैन समाज में भी अधिकांश लोगों की यही तो सोच है, साधुओं के प्रति कि हमारे ऊपर किसी प्रकार का अंकुश हमें बर्दाश्त नहीं है। अन्तर इतना ही है कि अविश्वास प्रस्ताव करके गद्दी पर से उतार देने की तरह साधुओं को कपड़े नहीं पहनाते जो इन पर अंकुश लगाते हैं। उनकी उपेक्षा करना भी तो उतारने के बराबर है। जनता के दिनों दिन गिरते हुए नैतिक स्तर को देखते हुए समझदार नेता ऐसी जनता का नेतृत्व करना स्वीकार नहीं कर सकता। कुछ विमुख भी हुए है, कुछ को नहीं चाहते हुए भी मजबूर होना पड़ रहा है नेतृत्व करने के लिए। सत्ता के लोलुपी कर ही रहे हैं जिनकी दुर्गति निश्चित है। उसी प्रकार समाज के गिरते नैतिक स्तर को देखने से लगता है जब मार्गदर्शन करने में पैर लड़खड़ा रहे हैं, तब समाधि कैसी होगी।

गणपोषण समीक्षा

I वैराग्य काण्ड

23. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, ऐसे गुरु का शिष्य वहाँ कामी की संतान।

गृह सन्यास के बहुत समय बाद समझ पाया कि गृह त्याग के समय के वैराग्य की दशा ''बालपने में ज्ञान न लहो'' जैसी थी। प्रश्न उठता है- क्या वैराग्य में भी बचपना, युवापना, प्रौढ़ता एवं वृद्धता भी होती है ? हाँ। पर्याप्त साधना और ज्ञान के अभाव में जिस किसी तथा-कथित/उपलनाव गुरुओं की शरण में जाने के लिए उतावली करने वाले के वैराग्य का बचपना ही तो कहा जायेगा। उपरोक्त साधुओं की शरण में जिस किसी तरह पहुंच जाने वाला भोला वैरागी ''लकीर का फकीर'' अपने आप को उस बालक के समान असहाय समझता है जिसे मां कारणवश मारपीट कर अपने से अलग करती है, झिड़कती है और वह मां के ही पैरों में लिपटता है। उसी प्रकार वह भोला वैरागी उपरोक्त गुरु की प्रत्येक बात मानने के लिए तैयार रहता है अन्यथा संघ से भगा दिये जाने का भय बना रहता है। एक जिज्ञासु ने शिष्या पर आरोप लगाते हुए पूछा कि जब उसके गुरु ने उसके साथ आपत्तिजनक व्यवहार किया दीक्षा से पहले, तब उसने उन्हीं से दीक्षा क्यों ली। उस जिज्ञासु को जब उपरोक्त बालक का उदाहरण दिया तब उसे समझते देर नहीं लगी।

नासमझ अवस्था में बालक के प्रति हुए माता-पिता के उपकार का बालक के लिए कोई मूल्य नहीं है। उसी प्रकार भोले वैराग्य की अवस्था में हुआ शिष्य के ऊपर गुरु के उपकार का शिष्य की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। जबकि उसका वैराग्य युवा या वृद्धता तक न पहुंच जाये। इस रहस्य को न समझने के कारण माता-पिता को खीचतें ही हैं उस बेटे पर जो योग्य होते हुए भी उनकी आज्ञा एवं सेवा पर लापरवाही बरतता है कि ''पाल-पाल जी को काल''। अधिकांशत: देखा यही जाता है कि आपस में सारा जीवन वैमनस्य या कटुता पूर्वक ही निकला करता है। गुरु भी खेद खिन्न हो उठते हैं कि कितना समय बर्बाद किया/उपकार किया/ लेकिन इस कृतघ्नी शिष्य की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रहा। गुरु यदि निर्दोष हैं तो शिष्य का अपराध है भी और नहीं भी। कैसे ? वैराग्य का बचपना अभी गया न हो तो उसका अपराध नहीं, लेकिन वैराग्य युवावस्था को प्राप्त होता तो एक तो वह लापरवाही बरतता ही नहीं, यदि बरतता तो उसका अपराध था। गुरु की सदोष दशा का ज्ञान होने पर लापरवाही बरतता/उपेक्षा करता तब भी अपराधी नहीं।

पशुओं में स्त्री समागम की एक सीमा होती है/ मर्यादा होती है। मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले स्त्री समागम को काम पुरुषार्थ की संज्ञा दी है, लेकिन शर्त है कि वह मात्र संतान उत्पत्ति के लिए समागम करे, वासना की तृप्ति के लिए नहीं। काम वासना से स्त्री समागम काम पुरुषार्थ नहीं अपितु पशुओं से भी बद्तर स्थिति है। इसमें मर्यादा का कतई ध्यान नहीं दिया जाता। काम पुरुषार्थ में ही इसका ख्याल रखा जाता है कि मासिक धर्म से निवृत्त होने के तत्काल बाद स्त्री समागम के योग्य हुआ करती है शेष समय में नहीं। वासना की दृष्टि से स्त्री समागम से पैदा हुई संतान माता-पिता के उपकार का योग्य होने पर गौर करेगी यह माता-पिता के भाग्य पर निर्भर करता है। उसी प्रकार वह गुरु उपरोक्त कामी पुरुषों से भी गया बीता है जो उपरोक्त भोले वैरागी को उसके हित के लिए नहीं, अपितु ख्याति, पूजा, लाभ के लिए शिष्य बनाता है। इसके बाद भी वह शिष्य गुरु के उपकार का ध्यान रखकर उसका अनुकरण करे, सेवा करे यह उसके भाग्य पर निर्भर करता है। ऐसा नहीं हुआ तो वह शिष्य को पश्चाताप करता हुआ कोसता रहता है और शिष्य भी गुरु को कोसता रहता है यदि गुरु ने उसके साथ अनुचित व्यवहार किया हो या उनकी सदोष एव अयोग्यता को समझ लिया हो तो। हो सकता परस्पर की कटुता दोनों के लिए प्रतिक्षण एवं अन्त में होने वाली समाधि में बाधक बनें।

24. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, वहाँ घूरे छानते, यहाँ रहा न स्वाभिमान।

भारतीय संस्कृति में गुरु कुलों की व्यवस्था ऐसी नही थी जैसी वर्तमान में प्रचलित पद्धति के अनुसार अध्ययन की सफलता एवं असफलता धन सम्पन्नता एवं विपन्नता पर निर्भर है। किसी के लिए विपन्नता बाधक बनती है तो किसी के लिए सम्पन्नता। धनहीन धन के अभाव में नहीं पढ़ पाता और धनवान धन के मद में अनपढ़ रह जाता है। और कभी किसी को सम्पन्नता तो साधक बनती ही है साथ ही किसी के लिए विपन्नता भी साधक बन जाती है। जैन समाज में ऐसे लोगों की संख्या अधिक ही है जो शिक्षा के क्षेत्र मे सम्पन्नता का सदुपयोग नहीं कर पाते। नेहरु जी के समान सम्पन्नता का सदुपयोग कर रहें हों समाज में ऐसे न के बराबर लोग हैं। लाल बहादुर शास्त्री के समान विपन्नता से जूझते हुए उन्नति करने वाले भी बहुत हैं समाज में ही नहीं देश भर में। हमें तो विपन्नता ही बाधक बनी है, लौकिक शिक्षा में। जिस समय जगह-जगह गुरुकुलों की व्यवस्था थी उस समय न विपन्नता बाधक थी न सम्पन्नता। राजा रंक समान थे। इस समय भी गुरुकुल की व्यवस्था है, लेकिन 'भिक्षां देहि' ऐसा कहकर मांग कर लाने की नहीं। इस समय कौन

पालक चाहेंगे अपने बालक से भिक्षा मंगवाकर शिक्षा दिलाना। पुरुषार्थी तो वही है जो विपन्नता में भी सम्पन्नता के समकक्ष उन्नति कर जाये जैसे शास्त्री जी।

मोक्ष मार्ग पर चलते हुए साधकों की साधना की सफलता एवं असफलता पुण्य सम्पन्नता एवं पुण्यहीनता पर निर्भर है। जबकि गुरुकुलों की तरह वन में रहने वाले साधुओं की साधना में बाधक नहीं है जैसी की भवन में रहने वालों के लिए बाधक है। किसी साधु के लिए पुण्य सम्पन्नता बाधक है तो किसी के लिए पुण्य हीनता। जिस पुण्य के रहते भक्तों की भीड़ के कारण ज्ञान, ध्यान, तप में लीन नहीं हो पा रहा हो। भीड़ को ही उपादेय (अच्छा) मानने वाले तीनों में लीन होना चाहते ही नहीं इसी को कहते हैं पुण्य सम्पदा का दुरुपयोग जिसे पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। जो ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहना चाहते है, लेकिन पुण्यहीनता बाधक बन रही है। हमेशा ऐसे स्थान में नहीं रह पाते जो लीनता में साधक है। ऐसे कम ही साधक मिलेंगे जो भीड़ की उपेक्षा कर अधिक से अधिक समय, ज्ञान, ध्यान, तप में लीन होकर निकालें। ऐसे साधक भी कम ही मिलेंगे जिसके पास भक्तों की भीड़ इकट्ठी नहीं होती। इसे वे बुरा नहीं मानते। ऐसी पुण्यहीनता के रहते उन्हें ज्ञान, ध्यान, तप में लीन होने का अधिक से अधिक अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है। यह भी एक पुण्यहीनता है कि जो उपरोक्त तीनों में लीन होने की चिन्ता किये बिना भीड़ बढ़ाने के चक्कर/प्रयास में रहता है फिर भी सफलता नहीं मिलती। इस प्रसंग में कहना यह है कि जैसी पुण्य एवं पुण्यहीनता गांव में रहने वाले साधुओं के लिए बाधक, साधक बनी है, बनती है वैसी जंगल में रहने वालों के लिए नहीं थी।

'समाधि समीक्षा' के गणपोषण अधिकार में कहना यह है कि पुण्य एवं पुण्यहीनता को लेकर साधुओं के साथ भक्तों द्वारा पक्षपात पूर्ण व्यवहार हो रहा हो, तब गणपोषण करने वालों को सोचना होगा या सोचना चाहिए की किसे, कब और कितनी दीक्षा देकर साधु बनाये जिससे साधु पद की गरिमा को बनाये रखा जा सके। अन्यथा तो देखा यह जा रहा है, देखा गया है कि वासना के वशीभूत हुए लोगों के नहीं चाहते हुए भी सामर्थ्य से बाहर संतान पैदा हो जाने पर धर्म पुरुषार्थ के साथ न्याय-नीति की उपेक्षा करके उनके उदर पोषण में लग जाता है। ऐसा भी न कर सकने की स्थिति में मुसलमानों की तरह-संतान को पांच-छह वर्ष की होते ही उसी के भरोसे छोड़ देता है। जाओ जहाँ जैसे मिले करो खाओ। ऐसे निराश्रित बालकों को घूरे छानते, गली गली घूमते हुए रोज ही तो देखते हैं। तथाकथित आचार्यों, साधुओं की ठीक यही स्थिति है। इनके द्वारा दीक्षित साधुओं के और अपने निर्वाह के लिए शास्त्र एवं शास्त्र उक्त आचरण की उपेक्षा कर दी, करते जा रहे हैं। इतने पर भी नहीं सम्हलें तो छोड़ दिया जाओ करो खाओ जहाँ जैसा मिले। ''मरता क्या नहीं करता'' की नीति के अनुसार पद की गरिमा खोते जा रहे हैं।

25. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, विद्यार्थी घर से, साधु शहर से परेशान।

गांव, शहरों में ही स्कूलों की व्यवस्था हो एवं घर में रहकर पढ़ने की व्यवस्था हो यह भी अध्ययन में बाधक है। जब घर में रहेगा तो ग्रह कार्य में सहयोग देना ही होगा। जिन लोगों की आर्थिक स्थिति कमजोर है उन्हें बालकों से सहयोग लेना अनिवार्य होता है और उन्हें देना, जब सामने हैं ही तब। यह तो अनुभव की बात है कि सहयोग की योग्यता रखते हुए भी सहयोग न देने पर स्वयं में लज्जा का अनुभव भी होता है अत: लोग सहयोग न भी लेना चाहें तब भी देता है। जो पढ़ाने में रुचि नहीं रखते वे कार्य का अधिकांश भार उसी पर सौंपे रहते हैं। काम धंधे से लग जाये तब पालक, बालक दोनों ही आवश्यक नहीं समझते पढाना एवं पढ़ना। ऐसे अनेक कारण है जो रोड़ा अटका देते हैं पर्याप्त शिक्षित होने में जिनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सभी जानते हैं। गुरुकुलों में रहकर अध्ययन करने की दूसरी विशेषता यही होती है कि घर में रहकर अध्ययन करने से आने वाली बाधाओं से वहाँ मुक्ति मिल जाती है। तीसरी विशेषता यह होती है कि घर में रहते हुए स्कूल जाकर अध्ययन में जितना समय लगता है गुरुकुलों में उससे आधे समय में ही पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेता है। चौथी विशेषता यह है कि स्वयं अपने ही हाथ से गुरुओं की सेवा करने से उनके प्रति समर्पण भाव, विनय भाव होता है। और गुरुओं का शिष्यों के प्रति वात्सल्य/स्नेह भाव होता है यह स्कूलों, कालेजों में नहीं हो सकता।

गांव, शहरों में रहने वाले साधुओं की स्थिति घर में रहकर स्कूलों, कालेजों में पढ़ने वाले छात्रों जैसी है। जंगल में रहने वाले साधुओं से लोग मात्र धर्म उपदेश की अपेक्षा रखते थे और साधु भक्तों से मात्र आहार की। गांव एवं शहरवासी साधुओं से धर्म उपदेश के अतिरिक्त उनके पद विरुद्ध अनेक अपेक्षाएं लग चुकी है जो स्पष्ट रूप से ज्ञान, ध्यान एवं तप में बाधक हैं। इन अपेक्षाओं का लक्ष्य के अनुसार आचरण पर क्या दुष्प्रभाव पड़ेगा इस की चिन्ता न के बराबर लोगों को छोड़कर न भक्तों को है न स्वयं साधुओं को। इस कलिकाल में जैसा चला आ रहा है उतना ही पर्याप्त समझा जा रहा है। जंगल में रहने वाले साधु लक्ष्य में बाधक सभी अपेक्षा से मुक्त रहते हैं। जिस अपेक्षा को उचित बताया जा रहा है ऐसे उपदेश को देने की योग्यता होते हुए किसी कारण से कभी न दे सके तब लज्जा का अनुभव होता है भले ही लोग उपदेश देने की कहें अथवा न कहें। न सुनाने पर उन्हें कोई अन्तर पड़े या न पड़े। उपदेश न देने पर मैं जैसा अनुभव करता हूँ वैसा वे समझे अथवा न समझे, लेकिन हम तो यह समझते हैं कि यदि आहार लिया है तो बदले में उपदेश देना अनिवार्य है। ऐसा उस समय प्राय: होता है जब सुबह की बेला में विहार करते हुए किसी

गांव में पहुंचे हों और आहार या सामायिक के बाद उपदेश दिये बिना विहार करना आवश्यक ही हो।

प्रत्येक साधु से उपदेश की अपेक्षा रखने वाली इस समाज के बीच में अधिकांश साधु ऐसे भी हैं जिन्हें ढंग से उपदेश देना नहीं आता। इस कमी को लेकर उनमें हीन भावना न आये इसलिए उनसे ऐसा कहने वाले लोग बिरले ही होंगे कि आप किसी प्रकार का विकल्प न करे, ज्ञान, ध्यान, तप में ही लीन रहें। हमें आपकी सेवा का अवसर मिल रहा है हम भाग्यवान है।

खातेगांव के लोगों की यह उदारता मुझे आज भी याद है। कहा था- आप यहीं रहकर अध्ययन करें। अध्ययन में यदि उपदेश बाधक बने तो हमें अभी उसकी भी आवश्यकता नहीं है, लेकिन हमसे वैसा नहीं हुआ अर्थात् उपदेश देते हुए अध्ययन करते रहे। ऐसे लोग कम ही मिले ऐसी स्थिति में गणपोषण के काल में गणपोषण कर्त्ता को सोचना होगा/सोचने के लिए मजबूर होना होगा कि दीक्षा उसी को दी जाये, उसी समय दी जाये जब उसे उपदेश देना आने लगे। भले ही वह आत्म कल्याण की भावना से युक्त उसी समय दीक्षा के योग्य ही क्यों न हो। देखा यह गया है कि ऐसे लोग अच्छे वक्ताओं से पीछे रहकर हीन भावना से युक्त हो जीवन जीते रहते हैं। जंगल में रहने वाले साधु जितना कर्मभार हलका थोड़े समय में कर लेते होगे अपेक्षाओं से रहित होकर वैसा शहर, गांववासी अनेक भवों में नही कर सकते।

26. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, वाहवाह की चाह में बूढ़े बारे एक समान।

पहले पांच वर्ष से पहले बालकों को अध्ययन से मुक्त रखा जाता था भले ही वह समय से पहले ही पढ़ने में रुचि क्यों न रखता हो/दिखाता हो, लेकिन अब तीन वर्ष भी पूरे नहीं हो पाते कि पढ़ने मे रुचि पैदा करने का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है और मानसिक तनाव पैदा कर दिया जाता है अर्थात् पढ़ाई की जिम्मेदारी सोंप दी जाती है। परिणाम इसका यह होता है कि शरीर का विकास जिस गति से होना चाहिए, नहीं हो पाता। असमय में मानसिक तनाव शरीर को विकसित नहीं होने देता और वैसी स्थिति में उसका रुग्ण (रोगी) हो जाना स्वाभाविक है। गरीब किसानों/मजदूरों को देखा है वे अपनी संतान से समय से पहले शारीरिक परिश्रम कराने लगते हैं जिससे उनका शारीरिक विकास रुक जाता है। गुरुकुल में समय से पूर्व भेजना सम्भव ही नहीं है।

वैराग्य का कोई निश्चित समय नहीं होता। बचपन में भी हो जाता है और पचपन में भी न हो। 'बूढ़े बारे एक समान' के अनुसार हो सकता है दोनों को ऐसी अवस्था में वैराग्य हुआ हो कि घर त्याग कर दीक्षा लेने की स्थिति में न हो। शहर या गांव में निजी स्कूल खोलकर शिक्षा देने को व्यवसाय बना लेने वालों ने जिस प्रकार कम उम्र वाले बालकों पर पढ़ाई का बोझ डाल दिया है उसी प्रकार शहर एवं गांव में रहने वाले साधुओं ने दीक्षा देने को, झूठी प्रशंसा पाने को एक प्रकार का साधन बना लिया है वे, कोई बूढ़ों को नहीं तो बारो (बालकों) को और कोई दोनों के ही ऊपर दीक्षा का भार थोप रहे हैं। पचपन की अपेक्षा बचपन में वैराग्य हो जाना काफी महत्व रखता है। दीक्षा लेने वाले की प्रशंसा तो होती है, देने वाले भी उससे अधिक प्रशंसनीय होते हैं। एक महाशय जी कह रहे थे- मैं चाहता हूँ मेरे पोते का विवाह मेरे ही सामने, मेरे जीते-जी हो जाये तो अच्छा है। हमने कहा- वह इसके योग्य हो गया है। उन्होंने अर्ध स्वीकृति में कहा- हाँ हो ही गया समझो। हमने कहा-आपके अभिप्राय से लगता है आप अपने स्वार्थ के लिए असमय में उसका विवाह करके उसके जीवन के साथ खिलवाड़ करना चाहते हैं। इसी प्रकार झूठी प्रशंसा पाने जैसे निज स्वार्थ से प्रेरित साधु अतिवृद्ध, अतिबाल वैरागियों के साथ खिलवाड कर रहे हैं समय मे पूर्व दीक्षा देकर।

शासकीय नियम के अनुसार पचास में से सत्रह नम्बरों से पास विद्यार्थी को दूसरी श्रेणी में भेज दिया जाता है तैंतीस नम्बरों से अयोग्यता को गौण करके। सत्रह नम्बर से छात्र की योग्यता के बारे में भी भगवान ही मालिक है, क्योंकि यह कलयुग के साथ साथ नकल युग भी है न। इसके साथ ही घूंस युग का भी अपने आप में एक अलग महत्व है। सत्रह नम्बरों के योग्य विषय में भी अयोग्य बालक को उसके माता-पिता एवं शिक्षक किसी भी तरह उसे आगे का विषय थोप देना चाहते हैं, थोप ही देते हैं। अब उस छात्र के ऊपर पहली कक्षा की तैंतीस (33) की और दूसरी कक्षा की पचास (50) की अयोग्यता को योग्यता में परिवर्तित करने का भार है। उसे वह उठा सकेगा ?

उस समय मुझे कितनी खुशी होती थी जब सत्रह नम्बर देकर पास घोषित कर दिया जाता था, लेकिन यह कभी नहीं बताया जाता था कि तैंतीस नम्बरों से फैल भी हो। जब मुझे इतने में ही श्यावासी मिल जाती थी तब मैंने उससे अधिक पाने का कभी प्रयास ही नहीं किया। इतनी अक्ल हममें उस समय थी कहाँ कि धोकेबाजी को समझ सकूं। णमोकार मंत्र मात्र का ज्ञान रखकर घर छोड़ देने वाला मैं यह कहाँ जान सकता था कि दसवीं प्रतिमा तक घर में रहकर साधना की जाती है, की जा सकती है ऐसा शास्त्रों का उल्लेख है। घर में एक प्रतिमा का अभ्यास किये बिना संघ में प्रवेश मिल गयाथा। इस समय मैं ऐसा समझता हूँ, मुझे सत्रह नम्बर में ही श्यावासी मिल गई थी। दसवीं प्रतिमा तक घर में रहकर साधना

करो ऐसा आदेश हर किसी को दिया जाता तब संघ वृद्धि के अभाव में आचार्य के प्रतिष्ठा. का सवाल पैदा हो जाता। मेरे विचार से छात्रों की विद्यालयों, गुरुकुलों की तरह साधुओं की जंगल में ही साधना होती तो वयहीनों, शक्तिहीनों के साथ ये आचार्य धोखा नहीं कर सकते थे।

27. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, पल-पल रग रग में माया अंत में कैसे धर्म ध्यान।

विवाह होने से पहले किसी लड़की के नादानी वश मां बनने की स्थिति में पहुंचने पर 'कोई क्या कहेगा' ऐसी चिन्ता उसे स्वयं एवं संबंधियों को होना स्वाभाविक है। ऐसी ही कुत्सित भावना से प्रेरित होकर स्वयं की नहीं तो वर्तमान में सर्वथा निर्दोष गर्भस्थ शिशु की हत्या करने पर उतारु हो जाती है या स्वयं न चाहते हुए भी संबंधियों की प्रेरणा से वैसा करने के लिए मजबूर हो जाती हैं जिसकी सेवा की तुलना साधु सेवा से की गई है। ऐसा मायाचार करते हुए वह या संबंधी दुनियां को दिखा देना चाहते हैं कि हम सर्वथा निर्दोष हैं। यह अनंतानुबंधी मायाचार है।

शक्ति के अभाव में या शक्ति के होते हुए अभ्यास के अभाव में मुनि पद धारण कर लेने पर मूल गुणों का पालन तो करना ही होगा अन्यथा कोई क्या कहेगा। शक्ति के होते हुए भी प्रमाद की स्थिति में मायाचारी से निर्दोष आचरण करके दिखाया जा सकता है दूसरों को कि हम निर्दोष हैं। अशक्त एवं अनभ्यास की दशा में कुछ समय तक तो शक्ति का उल्लंघन कर सकता है, अपनी निर्दोषता सिद्ध कर सकता है हमेशा नही। ऐसी स्थिति में उसकी वैसी ही दशा होती है जैसी उपरोक्त लड़की का उपरोक्त पाप न छुपाये जा सकने पर होती है। वह साधु उसी लड़की की तरह अपनी नादानी पर पश्चाताप करता है कि मैंने भावावेश में आकर यह क्या किया। 'यहाँ कुआं यहाँ खाई' के अनुसार पीछे लौटने का विचार करता है तो 'कोई क्या कहेगा' यहाँ भी यह प्रश्न खड़ा हो जाता है और निर्दोष आचरण न कर सकने की स्थिति में वही प्रश्न खड़ा हो जाता है अत: मुनियों के मूलगुणों के पालन पर गौर करने वाले लोगों से हमेशा कतराने की कोशिश करता है।

शक्ति के अभाव में कर्म की नहीं, द्वेषियों की नहीं, अज्ञानियों की नहीं विवेकियों की दृष्टि में क्षम्य होता है, लेकिन प्रमाद के वश हर क्षण मायाचार से व्रतों का पालन करने वाला अर्थात् दूसरों के गौर करने पर आचरण में उत्साह बरते, निर्दोषता दिखाये और गौर न करने पर स्वच्छंदता बरते वह क्षम्य नहीं हो सकता। शिष्य की अज्ञान दशा में या उसके न चाहते हुए भी उसे मार्गदर्शन देने वाले गुरु भी उपरोक्त तरीके से मायाचार करने के लिए

उकसाये या 'मौन संमते लक्षणं' के अनुसार वैसा करने वाले शिष्यों पर प्रतिबंध न लगाये तो उन्हें उपरोक्त संबंधियों के समान समझना चाहिए। होश सम्हालने से पहले ही दीक्षा दे देने वाले गणपोषकों को देखा गया है कि वे उसके उपरोक्त कृत्य पर लीपा-पोती करने का प्रयास करते हैं। जैसे पुलिस वाले ही अपराधी क्यों न हो सरकार उन्हें निर्दोष ही सिद्ध करने की कोशिश में रहती है। यथा अवसर मायाचारी करने, कराने वाला बगला भक्त या मायाचारी करने के लिए मजबूर होने वाला आदि, मध्य एवं अंत में मरेगा ही समाधि का अनुभव नहीं कर सकता। अन्त में गुरु के सामने मायाचार से ही दोषों की आलोचना करेगा। इसका जिम्मेदार मुख्य रूप से गणपोषक ही है।

कोर्ष से बाहर के विषय में रुचि रखने वाले छात्र माता-पिता एवं गुरु के (शिक्षकों के) साथ मायाचारी करने में बड़े माहिर होते हैं। घर से समय पर चलेंगे विद्यालय जाने की कहकर और चले जायेंगे खेल के मैदान में या सिनेमा हाल में और विद्यालय की छुट्टी होते ही घर आ जायेंगे। माता-पिता समझेंगे स्कूल से आ रहा है। घर में पढ़ने बैठेंगे कोर्ष की पुस्तक लेकर उसके बीच में कोर्ष से बाहर की पुस्तक उपन्यास रखकर पढ़ेंगे। माता-पिता एवं गुरु उसी के समान उसके प्रति पढ़ाने में लापरवाह हुए तो मुख्य अपराधी कौन कहलायेगा ? माता-पिता अनपढ़ हों या माता अनपढ़ और पिता अर्थ उपार्जन में ही व्यस्त रहे और गुरु वेतन से ही मतलब रखता हो तो अपराधी कौन ? बालक को तो अपराधी ठहराते ही हैं सभी, साथ ही पालक शिक्षक को शिक्षक पालकों को दोषी ठहराते हैं। पालक निवेदन करते हैं- पास कर दीजिए जो सेवा कहेंगे करेंगे अन्यथा एक साल बर्बाद हो जायेगी। शिक्षक भी ऐसा ही सोचें तो मूर्खता ही कही जायेगी जो साल बर्बाद हो गयी को हो जायेगी कह रहे हैं।

28. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, गुरु, श्रावक दूध के धोये शिष्य दुर्गुण खान।

सेवा की दृष्टि से कुन्द कुन्द स्वामी ने श्रावकों को मां की उपमा दी है। दिगम्बर साधु तो गुरु हैं ही शिष्यों के।इस समय ये दोनों ही शिष्य के प्रति लापरवाह हैं इससे कोई भी विवेकी अनजान नहीं हैं। गृहस्थ श्रावक आहार के समय आहार करा देता है। अब ये यथास्थान पहुंचकर अपना कोर्ष का विषय सामायिक, स्वाध्याय आदि करेंगे। आचार्य गुरु भी यही सोचकर अपने आवश्यकों एवं अनावश्यक जन संपर्क में लगे रहते हैं और शिष्य आपसी गप्पों में, सोने में अथवा नेतागिरि में सामायिक का समय निकाल देते हैं। स्वाध्याय के समय समाचार पत्र अथवा उपन्यास शास्त्रों के बीच रखकर पढ़ते हैं। गुरु तो शिष्यों के

प्रति अब इतने लापरवाह हो गये है कि शिष्य क्या, कहाँ खा-पी रहे हैं, आहार के लिए निकले हैं या नहीं इस पर गौर करना आवश्यक नहीं समझ रहे हैं।

इस समय आचार्यों द्वारा पूछताछ होती है या नहीं, मालूम नहीं। सुना अवश्य था कि आहार के बाद साधुओं से एक एक करके पूछा जाता था कि आज किसके यहाँ क्या खाया। कोई साधु किसी दिन सही-सही बताने में आना-कानी कर रहा है, ऐसा ज्ञात होने पर दाता से ही पूछा जाता था बुलवाकर कि इन्हें आज क्या क्या खिलाया। कोर्ष से बाहर रहने वाले शिष्य जब असफल होते हैं अर्थात् काला मुंह करने की स्थिति में आ जाते हैं या करने ही लगते हैं और अपने साथ ससंघ आचार्य की नाक कटाने लगते हैं तब आचार्य उन्हें ऐसा प्रायश्चित देते हैं कि वे वहीं रहते हुए जी सकते हैं न मर। संघ से निकालते समय ऐसा लगता है कि जैसे फेल होने पर पिता ने बेटे को घर से निकाल दिया। चरित्र पतित एक युवक कह रहा था- साधु अवस्था में एक महिला पिस्ते बादाम आदि मेवा-मिष्ठान खिलाने में बहुत जबर्दस्ती करती थी। संयमच्युत होने पर फूटी आंख से देखना नहीं चाहती। सुनकर ऐसा लगा कि जैसे बालक पढ़ने के समय में भी खेलता रहता था उस समय उसके साथी और अन्य कोई उसकी लापरवाही पर हंसते नहीं थे, लेकिन फैल हो जाने पर उपहास करते हैं। यहाँ विचारणीय यह हो जाता है कि शिष्य के पतन में मुख्य अपराधी कौन ? आचार्य श्रावकों को और श्रावक आचार्यो को अपराधी ठहराते हैं।

साठ (60) पेंसठ (65) वर्ष के वृद्ध महोदय से पूछा- आपने तो बहुत समय पहले ही संयम धारण कर लिया होगा ? कहने लगे - नहीं महाराज जी ! क्या बतायें, जब उद्रेक आता है तब अपने आप को रोक नहीं पाते। बाल अवस्था में दीक्षित व्यक्ति जब पूर्ण रूप से जबान/युवा होता होगा और जिह्वा इन्द्रिय पर नियंत्रण न हुआ हो तो वह अपने मन को उद्रेक से कैसे बचा सकता होगा। नीतिकारों ने जबान योगियों पर विश्वास न करने की बात कहीं है पीठ में घाव वाले योधा की तरह।

जब तक बाल्य अवस्था रहती है तब तक बालक बालिकाओं को एक साथ बैठाकर अध्ययन करना सुविधा की दृष्टि से फिर भी कदाचित् ठीक है, लेकिन किशोर एवं युवा अवस्था में वैसा करना सर्वथा/सर्वदा/सर्वत्र अनुचित है। यह बात दृढ़ता से कह सकता हूँ, क्योंकि एक साथ बैठकर तीन वर्ष तक पढ़ा है। संघ में आया तो ऐसा ही संयोग मिला। इतिहास में कुछ ऐसे ही गुरुकुलों के बारे में पढ़ा था कि जिस गुरुकुल में छात्रायें रहकर पढ़ती थीं वहाँ छात्र झांक भी नहीं सकते थे और जहाँ छात्र रह कर पढ़ते थे वहाँ छात्राओं का प्रवेश नहीं था। अनुभव है कि मन की चंचलता का प्रबल कारण एक दूसरे को एक दूसरे की निकटता के अतिरिक्त तीसरा कोई और प्रबल कारण नहीं हो सकता।

हमे वह घटना अभी भी स्मरण में है जब हमारे सहपाठी ने एक छात्रा के साथ थोड़ी सी शरारत की थी। पकड़े जाने पर विद्यालय से निकाल देने का आदेश हुआ था। इस घटना का अपराधी वही छात्र माना गया था। एक साथ बैठकर अध्ययन कराने की व्यवस्था को नहीं। स्कूलों, कालेजों का अनुकरण साधु संघों में हो रहा है। जब कभी आपत्ति जनक घटना घटती है। आचार्य एवं श्रावक दूध के धोय हो जाते हैं मुख्य अपराधी युवा साधु साध्वी हो जाते हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य जैसे असिधार व्रत पालन की प्रतिज्ञा की है।

29. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, छात्र शिक्षक समाज सरपंच समान।

अपराधी या अयोग्य होने के कारण किसी छात्र को किसी विद्यालय में प्रवेश न दिया जा रहा हो या इन्हीं कारणों से वहाँ से निकाल दिया गया हो तो उसे निजी विद्यालयों में प्रवेश मिल जाता है। नहीं तो वहाँ तो भर्ती कर ही लिया जाता है जो व्यवसाय हेतु खोले गये हैं। जो प्राथमिक कक्षाओ के योग्य भी नहीं होता वह माध्यमिक में प्रवेश पा जाता है और जो माध्यमिक के योग्य नहीं होता उच्च, उच्चतर, उच्चतम में क्रमशः प्रवेश पाता चला जाता है। यहाँ तक की प्रमाण पत्र के इस युग में उच्च पदों को भी प्राप्त कर लेता है अर्थात् नौकरी भी पा जाता है। वर्तमान में साधु संघों की ठीक यही स्थिति है। अपराधी एवं अयोग्य व्यक्ति के विषय में वैसी जानकारी होने पर कतिपय (कुछ) आचार्य संघ में उन्हें प्रवेश ही नही मिलता। जानकारी मिलने पर संघ से निकाल दिया जाता है। अर्थात् जिन्हें ऐसे संघों मे ब्रह्मचर्य भेष के योग्य भी नहीं समझा जाता वे/उन्हें ही अधिकांश संघों में सीधे मुनि होने के योग्य समझ लिया जाता है। बना भी दिया जाता है। इतना ही नहीं कुछ दिन संघ में रहकर अलग हो जाते है या अलग कर दिये जाते है। जैसे कि उनमें उतने समय में ही अलग रहने की योग्यता प्राप्त हो गई हो। हमने स्वयं जिन्हें अयोग्यता के कारण संघ से निकाल था। इस समय वे आचार्य बने घूम रहे हैं।

श्रावकों ने चरित्रहीन क्षुल्लक की शिकायत एक आचार्य से की। उन्होंने कहा- चिन्ता मत करो सब ठीक हो जायेगा और उन्होंने उसे वाहन से बुलवाकर दूसरे ही दिन क्षुल्लक से ऐलक बना दिया। सुनकर ऐसा लगा कि यह पदोन्नति चरित्रहीनता का प्रायश्चित है। अपराधी एवं अयोग्य साधुओं के जन्मदाता, आश्रयदाता, चरित्रहीनता के पोषक आचार्य उन शासकों और शिक्षकों के समान हैं जो पचास में से सत्रह नम्बर की योग्यता एवं तेंतीस में अयोग्य को पास घोषित करके अगली कक्षा में प्रवेश होने का अधिकार दे देते हैं। प्रत्येक कक्षा का विषय/कोर्ष दिनों दिन बढ़ता जा रहा है और शिक्षा

का स्तर दिनों-दिन गिरता जा रहा है अर्थात् पढ़ाई नाम मात्र होती है (इस विषय का स्पष्टीकरण आगे किया जाने वाला है) छात्र ही अयोग्य एवं अपराधी नहीं, अपितु ऐसे ही शिक्षकों की भी नियुक्ति हो रही है और वह भी आरक्षण एवं प्रमाण पत्र के आधार पर। शिक्षा के स्तर का गिरने का यह भी मुख्य कारण है। सभी जान रहे हैं कि साधुओं में शिथलाचार बढ़ता जा रहा है और जिम्मेदारियाँ भी बढ़ रही हैं लेकिन सद्गति साधक शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है (इस विषय में भी आगे कहा जाने वाला है)। उपरोक्त आचार्यों के कृत्य जब सुनने में आते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि अपराधी एवं अयोग्य व्यक्ति ही शिष्य/साधु नहीं बने/बन रहे; अपितु जब से साधुओं को आचार्य पद पर नियुक्त समाज के द्वारा किया जाने लगा, तब से अपराधी एवं अयोग्य व्यक्ति भी आचार्य बने हैं, बनाये जा रहे हैं। जब समाज द्वारा किसी को आचार्य बनाया जाता है तब लगता है पंचायती राज्य के अंगूठा छाप सरपंच जिस किसी व्यक्ति को शिक्षक के रूप में नियुक्त कर रहा है। मैं भी समाज के ऐसे ही लोगों द्वारा आचार्य बनाया जा रहा था जिन्हें न आचार्य का स्वरूप मालूम था न उनकी जिम्मेदारियों का ज्ञान था। फिर मैं कैसे समझूं कि जिनके द्वारा आचार्य बनाये जा रहे हैं वे विवेकी ही हैं।

एक महात्मा के पास पहुंच कर एक व्यक्ति ने साधु बनने की इच्छा प्रगट की। उन्होंने परीक्षा की दृष्टि से पूछा- तुम्हें गुरु बनना है या चेला ? उसने दोनों के करने योग्य कार्य पूछे। महात्मा जी ने दोनों के अलग अलग कार्य बता दिये। उसने सोचकर कहा- आप तो छोटा-मोटा गुरु ही बना दीजिए। महात्मा जी ने कहा - 'नो दो ग्यारह हो जाइये'। शिष्य की अपेक्षा अपने को गुरु कहलवाने में हर किसी को गौरव का अनुभव होता है। अत: ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो तत्काल नहीं तो कुछ समय में शिष्य से गुरु ही नहीं गुरु का गुरु बन जाने का स्वप्न देखने लगता है। ऐसे गुरुओं को आगे चलकर शिष्य का शिष्य बन जाने की नौवत आ जाती है जो आपस में संघर्ष का कारण बनती है। जो प्रारम्भ में शिष्य नहीं बनना चाहता तब क्या अन्त में शिष्य बनकर समाधि कर सकेगा ? नहीं।

30. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, दादागिरि से क्लास में होता धूम्रपान।

'चोरी और सीना जोरी' के अनुसार अपराधी शिष्यों का गुरुओं के साथ होने वाला उद्दण्डता पूर्ण व्यवहार भी उल्लेखनीय है- ग्यारहवीं क्लास की परीक्षा चल रही थी। बीड़ी पीने के शौकीन राजपूतों (ठाकरों) के दो पूत परीक्षा दे रहे थे और निरीक्षक निरीक्षण कर रहे थे। दूसरे निरीक्षक के आते ही ये जल-पान हेतु बाहर निकल गये। राजपूत इनसे

परिचित थे कि ये बीड़ी पीते हैं। मुंह लगे भी थे। एक ने निवेदन किया मा शाप (मास्टर साहब) एक बीड़ी देव (दो)। वे उसे डांटने जैसा नाटक करते हुए आगे बढ़ गए। घूमते हुए पुनः वहाँ आये। उसने पुनः दयनीयता प्रगट करते हुए निवेदन किया। कहने लगा- माशाप बीड़ी दे दो भगवान कसम बहोत देर से तलफ लगी है। वे आना-कानी करते हुए आगे बढ़ गए। तीसरी बार पहुंचे अन्य छात्रों की आंख बचाते हुए एक बीड़ी पकड़ा दी। वह जलाकर पीने लगा। इतने में पहले वाले निरीक्षक आ गये। धुआं उड़ते देख उन्होंने कहा कौन पी रहा है यहाँ बीड़ी। पीने वाला स्वयं कहता है- कोई नईं पी रओ इते बिड़ी। काए खें पी है कोई क्लास में बीड़ी। निरीक्षक पास में पहुंचे। कहने लगे- ए मिस्टर तुम ही पी रहे हो खड़े हो जाओ। उसने उसी समय मुख नीचा करके तीन-चार कश जल्दी-जल्दी लगाये और बीड़ी बुझाकर फेंक दी और रोव जमाते हुए कहने लगा- आप तो एक बार गये नाश्ता कर आये। दूसरी बार में चाय पान कर आये। इते कोई एक बीड़ी तक नइ पी सके। निरीक्षक कहने लगे डांटते हुए तुम बहस करते हो, उठो, बाहर जाओ। आगे वाला राजपूत कहता है- हल्ला काए आ कर रओ पेपर करन दे रओ के नंइ। निरीक्षक ने सोचा अब पिटने की नौबत आ गई है मेरी। वे चुपचाप आगे बढ़ गये।

शब्दाद्वैत वादी कहता है- यह जगत शब्द रूप ही है अर्थात् शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शब्द के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता इत्यादि इन कल्पनाओं के रहते हुए इस युग को नामाद्वैत कहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना कोई कार्य नहीं हो रहा है। जो कुछ इसके बिना हो रहा है वह अपवाद समझना चाहिए। नाम से प्रेरित होकर सक्रियता से किये जा रहे आरम्भ-संरम्भ के कार्यों को करने में व्यस्त गुरु/आचार्य को बीड़ी पीने वाले शिक्षक के समान उस शिष्य को फटकारने का अधिकार है जो नाम के लिए धर्म के नाम पर आरम्भ-सारम्भ के कार्यों को कराने की स्वीकृति मांग रहा हो या बिना स्वीकृति लिये ही करवा रहा हो ? नहीं। झूठ-मूठ गुस्सा दिखाने वाले एवं वैसी आना-कानी दिखाकर चुपचाप बीड़ी पकड़ा देने वाले निरीक्षण के समान आचार्य लोकाचार (कोई क्या कहेगा) वश झूठी-मीठी डांट दिखाकर समझा देते हैं कि ये आरम्भ (पाप) के कार्य हैं क्लास में बैठकर धूम्रपान करने के समान मुनि पद पर रहते हुए सक्रियता से, तन्मयता से करवाना शोभा नहीं देता। लेकिन जब आचार्य बिना कहे ही समझ लेते हैं कि मेरे समान इसे भी नाम की तलफ लगी है बीड़ी की तलफ के समान। तब स्वीकृति मिल जाती है छात्र को बीड़ी मिल जाने के समान। ऐसे अपराधी शिष्य साधुओं के कोप का भाजन तो वे साधु बन जाते हैं जो उपरोक्त पाप-पुण्य के कार्यों की कृत, कारित, अनुमोदना से परे (दूर) रहते हुए निषेध करते हैं क्लास में बड़ी पीने का निषेध करने वाले शिक्षक के समान। प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप में उनके विचार सुनने मिल जाते हैं इन्हें समाज सुधार/उद्धार की

चिन्ता ही नहीं है। बैठ जाते हैं एकान्त में और बक्‌बक् करते रहते हैं आहार न मिलें तो समझ में आ जायेगा कि मात्र आत्मोद्धार क्या चीज है। इनके सहयोगी साधु मिल जाते हैं 'हल्ला काए आ कर रओ पेपर करन दे रओ के नंइ' कहने वाले के समान दादागिरि दिखाने वाले के समान। अवसर आये तो दिखा भी देवे। निरीक्षक ने तो धमकी सुनते ही भाग लिया था, लेकिन समाधि की भावना से ओतप्रोत साधु 'अपना लोटा छानों' के अनुसार चलना चाहते हुए भी अपराधी साधुओं के कृत्यों पर हस्तक्षेप करने के लिए मजबूर हो रहा है।

31. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, क्रम व्यवस्था में आगे मान पीछे अपमान।

जिसने असमय में ही घर छोड़ा हो अर्थात् ब्रह्मचर्य भेष धारण कर लिया हो और असमय में क्षुल्लक ऐलक, मुनि बन गया हो। इतना ही नहीं असमय में ही गुरु बन गया हो ऐसा मैं, मुझे लगता है कि जिन्हें असमय में धारण किया है, वे असमय में ही छूटे हैं और जो कुछ है असमय में छूट जायेगा। जो कुछ भी अपनाया असमय के कारण उनको अपनाने का उद्देश्य गौण रहा। अभिमान मुख्य हो गया जो समाधिरूप नहीं है।

सबसे बाद में पैदा होने वाला पिता से शिकायत नहीं करता/कर सकता कि बड़े भाइयों से भी होशियार हूँ तब मुझे पहले पैदा क्यों नहीं किया। राजतन्त्र में राजा का लड़का ही राजा बनेगा के साथ ही ज्येष्ठ पुत्र ही बनेगा ऐसा नियम है। अब वह उसके योग्य हो ही यह कोई आवश्यक नहीं है। योग्यता के बल पर कोई अन्य पुत्र राजा बनना चाहे या बनने का प्रयास करे तो वह लोक विरुद्ध होगा भले ही राज्य हाथ से ही क्यों न निकल जाये। परमार्थ इससे भिन्न है अर्थात् यहाँ योग्यता ही सर्वोपरि है, लेकिन असमय में घर छोड़ कर संघ में आने का, भेष धारण करने का परिणाम यह होता है कि आगे आने वाला क्रम में आगे रहने का अपना पूरा अधिकार समझता है। योग्यता के अभाव में यदि वैसा नहीं हुआ तो अपना अपमान समझता है, गुरु को पक्षपाती समझता है, आगे रहने वाले साथियों से ईर्ष्या रखता है, अपने में हमेशा हीन भावना रखता है। प्रयासरत रहता है क्रम में आगे हो जाने के। सम्भव हुआ आगे होना तो जीवन भर अभिमान से जियेगा। नहीं हुआ तो हीन भावना से ही मौत के मुंह में जायेगा। सम्भव हुआ संघ से अलग हो जायेगा, लेकिन हीन भावना को नहीं छोड़ पायेगा। हो सकता है आगे रहने वालों के प्रति अनिष्ट भावना से जीवन भर ग्रस्त रहे। जिसका मोक्ष मार्ग से कोई संबंध नहीं है ऐसे क्रम में उलझी मानसिकता अपने लक्ष्य को ओझल कर देती है।

देखा ऐसा गया है जो आगे आकर मुनि बन गया है वह आगे ही रहेगा, भले ही पीछे आकर मुनि बनने वाले उससे सर्वगुण सम्पन्न क्यों न हों, क्योंकि देखने में आने वाली द्रव्य दीक्षा पर जितना गौर किया जाता है, उतना भाव दीक्षा के विषय में नहीं। संघों में संघर्ष का कारण आगे-पीछे करने में आचार्य का पक्षपात है। एक संघ में सभी प्रकार के साधु हुआ करते हैं। कुछ चरित्र में आगे होते हैं, कुछ ज्ञान में आगे होते हैं अर्थात् श्रेष्ठ होते हैं। बहुत कम ही होंगे जो दोनों में श्रेष्ठ होंगे। ऐसे बहुत हैं जो दोनों से कमजोर हैं। ऐसे भी होते हैं जो वक्ता होते हैं भले ही चरित्र एवं ज्ञान में श्रेष्ठ हों या न हों। अपनी विशेषता को लेकर कोई किसी से अपने आपको सर्वथा तुच्छ नहीं समझता। उपरोक्त विशेषताओं में किसको महत्व दिया जाये यह आचार्य के ऊपर निर्भर है। कभी-कभी अवसरवाद से भी काम लेना होता है।

कोई व्यक्ति गुरु से स्वयं आग्रह करे, वर्षों से आश लगाये बैठा रहकर प्रतीक्षा में रहे और किसी से गुरु स्वयं दीक्षा लेने के लिए प्रेरित करे इसमें काफी अन्तर है। एक में लेने वाले की गरज है और दूसरे में देने वाले की। मांग कर खाने में और मना मनाकर खिलाने में महत्व मना मनाकर खाने वालों का होता है अत: उसे खुश रखने के लिए मनपसंद चीज खिलाई जाती हैं। मनामना कर दीक्षा देना ही मुख्य हो जाता है। किसी का आगे आना, उपरोक्त विशेषताओं का होना सब गौण हो जाता है। साधकों के साथ मनमानी करने वाले आचार्य के प्रति बहुमान न रह जाना स्वाभाविक है। क्रम एक व्यवस्था है उसे लेकर मानापमान मानना समाधि में बाधक है।

II सहधर्मी सहोदर काण्ड

32. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, धर्म नेताओं में होती राजनेताओं की पहचान।

अनुभव एवं शास्त्र के आधार पर यह दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मोक्ष में बाधक सहधर्मी के प्रति अनुराग है और मोक्षमार्ग में बाधक सहोदरों के प्रति अनुराग है। सहोदरों से तात्पर्य निकट एवं दूर के कुटुम्ब और रिश्तेदार संबंधियों से है। 'सभी अच्छे के साथी हैं बुरे के नहीं' व्यसनमार्गी हो गया होता तो निकट सगा संबंधी भी संबंध जोड़ने में हिचकिचाता कि अमुक व्यक्ति से हमारा अमुक रिश्ता है, लेकिन इस समय तो वे भी संबंध जोड़ते देखे, सुने जाते हैं जिन्हें न हम इस समय पहचानते हैं और न उस समय पहचानते थे या जिनसे घर में रहते हुए संबंध प्राय: विच्छेद हो चुका था वे भी संबंध

जोड़ने लगते हैं परिचय देते हुए। इस कृत्य का साधु के ऊपर क्या दुष्प्रभाव पडेगा इस की चिन्ता एवं ज्ञान उन्हें नहीं है। यह कहने में भी आश्चर्य नहीं है कि साधु को भी नहीं है। अन्यथा वैसा प्रसंग उपस्थित होने पर इन झूठे/अस्थाई/क्षणिक संबंधों के सुनने, कहने में रुचि क्यों दिखाता। इतना और स्पष्ट करें कि स्वयं जोड़ने लगता है अवसर आने पर। करें क्या, इन झूठे संबंधों में मानसिकता उलझाए रखने में गृहस्थ तो सहयोगी बनता ही है साथ ही साथ जिन्हें साधु अपना मार्गदर्शक मानता है, गणपोषक मानता है उनका सहोदर एवं सहधर्मी शिष्यों के साथ होने वाला पक्षपात पूर्ण व्यवहार झूठे संबंधों को बनाये रखने में बल देता है। जब गणपोषकों का उपरोक्त पक्षपात मय व्यवहार स्पष्ट झलकेगा तब संबंधियों द्वारा किये जाने वाले साधुओं के साथ पक्षपातमय व्यवहार को गलत किस मुंह से कहा जायेगा। पहुंचे हुए धर्म नेताओं (आचार्यों, गणपोषकों) के संबंधियों की स्थिति राजनेताओं के संबंधियों जैसी है और निकट भक्तों की स्थिति राजनेताओ के खास खास कार्यकर्ताओं/समर्थकों जैसी है। सामान्य लोगों को ठीक साधुओं तक को धमकी मिल जाती है कि अमुक साधु गड़बड़ करेगा तो संघ से निकलवा देंगे या कपड़े पहनवा देंगे। सुनकर के लगा कि जिसकी कोई औकात नहीं, किन्तु संबंधी होने के बल पर किसी उच्च अधिकारी को उसके पद से, अधिकार से वन्चित करा देने की धमकी दे रहा हो। जब पक्षपाती धर्म नेताओं का पक्षपात सामने आता है तब उस समय राम की मोह दशा सामने आ जाती है। लक्ष्मण की मृत दशा बताने वालों को खरी-खोटी सुननी पडती थी। इस पक्षपात मय व्यवहार को अशुभोपयोगमय (अश्लील) मनोरंजन कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं है। वैराग्य की कमजोर दशा में निमित्तों से यदि बचाया न जाये तो अश्लील मनोरंजनों के समान ये निमित्त विद्यार्थी के पतन के समान साधु के पतन का कारण बन रहे हैं, बनते हैं, बनेंगे।

राजनीति मे/समाज नीति में भाई-भतीजावाद हो सकता है, होता रहा है, हो रहा है और होता भी रहेगा, यदि धर्मनीति में भी होने लगे तो दोनों में कोई अंतर नहीं रह जायेगा। उपरोक्त नीति को लोक में भी निंद्य माना जाता है तब तो परमार्थ में महानिंद्य ही समझना चाहिए। इस नीति के रहते संघ संघर्ष एवं संघ विघटन सुनिश्चित है।

प्रतिदिन का यह अनुभव है कि पूर्व परिचित सहधर्मी एवं अपरिचित सहधर्मी या विधर्मी के साथ निष्पक्ष व्यवहार नहीं हो पाता अर्थात् पूर्व परिचित सहधर्मी के सामने आते ही मुंह पर प्रसन्नता सहज ही आ जाती है, लेकिन अपरिचित के साथ वैसा कुछ नहीं होता। यहाँ इसी से संबंधित एक बात और समझनी है कि किसी साधु का किसी गृहस्थ के साथ सहधर्मी संबंध भी होता है और सहोदर संबंध भी, किसी के साथ सहधर्मी संबंध तो होता है सहोदर संबंध नहीं, किसी के सहोदर संबंध तो होता है सहधर्मी नहीं और किसी

के साथ दोनों ही नहीं होते। जहाँ शुद्ध धर्मानुराग है वहाँ सहधर्मी के साथ पक्षपात नहीं होता। चाहे सहधर्मी सहोदर हो अथवा न हो, परिचित हो या न हो सहधर्म के नाते व्यवहार में समानता होगी ही उसी प्रकार विधर्मियों में माध्यस्थता के रहते पक्षपात नहीं हो सकता, लेकिन अनुभव तो यही कहता है कि अपरिचित सहधर्मी तो छोड़िये परिचित सहधर्मी भी सहोदर न हो तो वह उतना स्नेह नहीं पा पाता जितना सहोदर सहधर्मी पा जाता है। यहाँ तक कि परिचित विधर्मी से अपरिचित सहधर्मी भी पीछे रह जाता है स्नेह पाने की अपेक्षा। देखा तो यहाँ तक जाता है कि अल्प उम्र का साधु भी वयोवृद्धों का नाम लेते हुए थोड़ा भी नहीं हिचकिचाता। बच्चों की तरह सहजता से उनका नाम पुकार कर संबोधन कर लेता है, लेकिन हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जिन्हें वह छोड़ चुका है ऐसे वयोवृद्धों के साथ उनका नाम लेते हुए व्यवहार नहीं कर सकता। इससे सिद्ध होता है कि सहोदर सहधर्मियों का संबंध अभी मात्र सहधर्मी के रूप ही नहीं बदला है। कुन्द कुन्द ने हिंसा क्रोधादि भावों की तरह पक्षपात को अशुभ भाव कहा है। यथावसर होने वाला पक्षपातमय व्यवहार प्रति पल बाल बाल मरण को सूचित करता है तब अन्त कैसा होगा ?

33. क्या समाधि धर्म महान ? हाँ, सहोदर संबंधी हों विवेकवान।

देखा यह गया है कि मां जब-तक सामने नहीं आती या बेटा मां के सामने नहीं आता। तब तक वह स्वयं अकेला या अन्य किसी की गोद में खेलता रहता है, लेकिन मां के सामने आते ही रोने लगता है उसके पास आने के लिए, भूखा हो या न हो तब भी। इसमें अपराध किसका है, विचारणीय है। किसी साधु के वैराग्य में बचपना हो तो उसकी ठीक बालक वत् स्थिति होती है। जिस किसी साधु के साथ जब कभी एक जैसा व्यवहार करने वाले व्यक्ति विवेकी नहीं हो सकते।

एक भक्त से एक साधु ने उलाहना देते हुए कहा- आपका बहुत दिन बाद आना हुआ। उन्होंने कहा- बीच में आना तो चाहता था, लेकिन जानबूझकर ही नहीं आया। इस समय आया भी हूँ तो बिना इच्छा के। साधुजी ने पूछा - क्यों ? उन्होंने कहा- आप तो जानते ही हैं कि मैं आपका पूर्व निकट संबंधी हूँ। आपके साधु बनने के बाद पहली बार ज़ब हमने सपरिवार आपके दर्शन किये थे तब आपका व्यवहार हमें बड़ा संतोष जनक लगा था। उस समय आपने हम लोगों की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा था। बोले भी थे तो नपा तुला, लेकिन जब दूसरी बार दर्शन का अवसर मिला तब आपके वैराग्य की दशा चक्रवर्ती के रूप की तरह कोढ/मोह में बदल गई थी। कहने लगे- मतलब ? मतलब यह है कि पहली बार जब देवों ने चक्रवर्ती को देखा, देखकर प्रशंसा की। दूसरी बार नाक, मुख

सिकोड़ने लगे थे कि वो बात कहाँ है। दूसरी बार मिलने पर आपने धर्म चर्चा को गौण कर गांव के अधिक से अधिक लोगों के साथ-साथ अपने घर की विस्तृत जानकारी ले ली, तब हमारा नाक, मुख सिकोड़ना स्वाभाविक था। स्वाध्याय में रुचि रखता हूँ इसलिए। लेकिन बिना कहे आप मेरी इस दशा को समझ नहीं पाये। मेरी गलती ही कहिए कि देवों की तरह आपसे स्पष्ट नहीं कह सका कि आपका वैराग्य मोह रूप कोढ़ में बदल चुका है। हो सकता है उसी समय सचेत कर देता तो महा विकृति का रूप न लेता। इसी का परिणाम है कि गांव में आप निर्दोष साधुओं की श्रेणी में नहीं माने/गिने जाते। जो भी वहाँ से आते हैं उन्हीं से आप घुमा फिरा कर घर की विस्तृत जानकारी लेने की कोशिश करते हैं। जब कभी भी जहाँ-कहीं से आपके समाचार पत्रिकाओं के माध्यम से पहुंचते रहते हैं। लोगों में चर्चा का विषय बन जाता है कि इन्हीं महाराज के समाचार क्यों आते रहते है और किसी के क्यों नहीं आते। आप ही ऐसा करते हैं या संघस्थ और भी साधु करते है या तुम्हारे गुरु भी ऐसा करते हैं। कहने लगे- मुझे क्या मालूम घर से सीखकर तो आया नहीं था। जैसा होता है वैसा करने लगा। उन्होंने कहा- इससे यह सिद्ध होता है कि अभी जो कुछ भी आपने किया वह भावुकता एवं विवेकहीन वैराग्य के वश में किया है, अन्यथा किसी वैरागी आचार्य/गुरु की खोज करते। अंतिम समाधि के लिए निर्दोष गुरु की खोज की तरह प्रति क्षण समाधि के लिए निर्दोष गुरु की पहचान/खोजने की योग्यता होना चाहिए।

34. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, बुलवाकर होता माता-पिता का सम्मान।

संबंधी महोदय आगे कहने लगे- तीन वर्ष पूर्व एक आर्यिका संघ का चातुर्मास हुआ। जो कुछ देखने एवं सुनने को मिला उससे लगा कि आप जैसे शिष्यों के लिए गुरुओं को उनके जन्म/निवास स्थान में चातुर्मास आदि करना तो दूर उस ओर विहार करने का आदेश भी नहीं देना चाहिए, लेकिन देखा यह गया है कि ये गुरु शिष्यों को ऐसी जगह रहने का आदेश देते हुए देखे, सुने जाते हैं जहाँ उनके निकट संबंधी हों। यही सोचकर कि कोई और व्यवस्था करेगा या नहीं संबंधी तो करेंगे ही। अधिकांश लोग गांव के साधुओं को गांव में देखना चाहते हें, लेकिन जो विवेकी हैं वे या जो भुक्त भोगी हैं वे साधुओं को परिचित स्थान से दूर ही देखना चाहते हैं। साधुओं की कमजोर मानसिकता को देखते हुए उनसे दूर ही रहना चाहते हैं, लेकिन ऐसे लोगों के प्रति ऐसे साधुओं की सोच/विचार धारा कुछ और ही होती है- ''घर का जोगी आन गांव में सिद्ध'' के अनुसार उनकी सोच होती है कि इनकी हमारे प्रति भक्ति नहीं है। अधिकांश लोग ऐसा करते हुए देखे जाते हैं, अतः

सभी को एक जैसा समझ लेते हैं।

अभी तक मैंने किसी को अपना परिचय नहीं दिया है। पूछने पर गांव का नहीं जिला का नाम अवश्य बता दिया है। कृपया आप भी किसी को हमारा परिचय नहीं देंगे। क्यों ? क्योंकि हम इसका परिणाम भी देख चुके हैं। किसी साधु के जन्मदाता साधु भक्तों से सम्माननीय हैं भले ही वे आचरण पतित क्यों न हों या सम्मान करते समय यह जानने का प्रयास नहीं किया जाता कि इनकी वृत्ति कैसी है। साधु का जन्म दाता हो जाना ही पर्याप्त है आदर पाने के लिए। किसी साधु के जनक-जननी का मोह वश या दर्शनार्थ आना यह अलग बात है, लेकिन सम्मान हेतु स्वयं साधुओं के द्वारा येन-केन-प्रकारेण बुलाया जाना मौत को सूचित करता है। सम्मान में भी पक्षपात होता है। साधु यदि आचार्य हो तो उसके माता-पिता के सम्मान का रूप कुछ और ही होता है उपाध्याय, साधु, ऐलक, क्षुल्लक आर्यिका, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी की अपेक्षा। इसमें भी कोई साधु प्रभावक हों तो उनके माता-पिता के सम्मान का भी एक विशेष महत्व है। वैसे भी यह सम्मान का युग है। किसी अजैन का जैन साधु बन जाने पर यह आवश्यक नहीं है उसके माता-पिता भी जैन बन गये हों या परिवार के अन्य सदस्य भी जैन बन गये हों। लेकिन ऐसे साधु के प्रभाव में आकर अंध भक्तों ने उन्हें बुलवाकर सम्मानित किया है। कुछ तो जैन होते हुए भी नास्तिक है फिर भी आदरणीय हैं।

माता-पिता होने के नाते यदि सम्मानीय हैं और सम्मान प्रोत्साहन के लिए किया जाता है, तब उन्हें या अन्य किसी को क्या करने की प्रेरणा मिलती है कि हम या हम भी ऐसी ही संतान पैदा करें या जिनके ऐसी संतान नहीं है उन्हें प्रेरणा मिलती है कि हम भी अपनी संतान को साधु बनने की प्रेरणा दें या ऐसी ही संतान पैदा होती या पैदा करें। या फिर हम भी साधु बनें ऐसी प्रेरणा मिल जाती हो सम्मान मिलने पर, लेकिन देखा तो यह गया है कि प्रतिवर्ष सम्मान मिलने पर भी बीड़ी, तम्बाखू भी नहीं छूटी। किसी ने अपनी संतान को साधु बनने की प्रेरणा दी हो और संयोग वश साधु बन जाये तो वह कदाचित सम्मानीय है। प्रेरणा देने के बाद भी न बने तब भी प्रेरक सम्मानीय है। पांच पुत्रों का पिता एक दिन कह रहा था- महाराज मैं तो इस जीवन में आप जैसा नहीं बन सकता, लेकिन हम आपसे जानना चाहते हैं कि पांचों में से कोई साधु बनेगा कि नहीं ? हमने कहा- निरंतर साधुओं के सम्पर्क में लाते रहिये आपकी भावना फलीभूत होगी। ऐसे लोगों की संतान साधु न भी बने तब भी वे आदरणीय हैं। इनसे विपरीत एक मां को ऐसा कहते हुए सुना कि हम तुम्हें पोल (काट) देंगे, लेकिन महाराज जी के साथ नहीं जाने देंगे। ऐसी धमकी सुनने के बाद भी लड़का साधु बन जाये तब क्या ऐसी मां भी आदरणीय हो सकती है?

संबंधी जनों का सम्मान देख कर आनंद विभोर हो जाने वाले साधु जब आदरणीय नहीं हैं, तब संबंधी आदरणीय कैसे हो सकते हैं यदि साधु को अपना संबंधी समझ कर उसके पास आये हों। ऐसे साधुओं को यह समझना चाहिए कि एक आचार्य के लिए सहधर्मी शिष्यों का सानिध्य समाधि में बाधक है, तब संबंधी जनों का सानिध्य तो काल कूट समझकर उपेक्षणीय है। संबंधियों में स्वाभिमान हो तो परस्पर में वैसा व्यवहार हो अर्थात् जब लड़के ने हमेशा के लिए हमसे संबंध विच्छेद कर दिया है तब हम क्यों इससे संबंध बनाये रखें। बनाये रखना बेशर्माई है। लेकिन वैराग्य तो एक को ही हुआ है अत: तीख चढ़ाने पर भी संबंधियों का कहना होता है- वैराग्य हमें तो हुआ नहीं जो हम संबंध विच्छेद कर दें। पति के साधु बन जाने पर एक अल्पज्ञ ने पत्नि पर आक्षेप किया कि आप को मांग नहीं भरना चाहिए। उसने कहा वैराग्य उन्हें हमसे हुआ है हमें उनसे नहीं। जब हमें होगा फिर मांग भरने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे मुनि ही हुए हैं। किसी का पति शत्रु भी हो जाता, छोड़ भी देता तब भी मांग भरना नहीं छोड़ती।

35. क्या समाधि धर्म महान ? हाँ, शैतान से साधु बन जाये इंसान।

लोक व्यवहार में कुछ भी हो परमार्थ दृष्टि से बालकों के पालकों की तरह प्रत्येक साधु के निकट या दूर संबंधी विवेकी हों तो पढ़ने में बालक एवं पढ़ाने में शिक्षकों की तरह मोक्ष मार्ग पर चलने वाले शिष्य एवं चलाने वाले आचार्य (गुरु) लापरवाही नहीं बरत सकते। साधु महाराज यदि जंगलों में ही रहते तो संबंधी जनों की निकटता बाधक नहीं बन सकती थी। साधु जी अपना पक्ष लेते हुए कहने लगे- आप जैसे संबंधी हैं कहाँ- कोई साधु उनसे बात भी न करना चाहे तो रुष्ट हो जाते हैं, साधु को अन्यथा समझ लेते हैं। आचार्य या अन्य साधुओं से शिकायत करते हैं कि अमुक साधु हमसे बात करना तो दूर आंख उठा कर देखते भी नहीं हैं। जो साधु वैसा करने में रुचि रखते हैं अर्थात् देखना, बोलना तो ठीक साथ ही केमरे वाले को बुलवाकर उनके साथ बैठकर फोटो खिचवाते हैं वे हमारी हम ही से शिकायत करते हैं कि आपकी शिकायत आती है कि आप संबंधियों से बात नहीं करते जबकि करना चाहिए। हमारा कहना था- वे शिवाय गृहस्थी की चर्चा के अलावा धर्म चर्चा करते नहीं। संबंधियों से आहार लेने एवं उन्हें देने संबंधी पक्षपात तो किसी से छुपा नहीं। अन्य दाताओं की योग्यता के विषय में जैसी एवं जितनी खोजवीन करते हैं वैसी एवं उतनी संबंधी दाताओं के विषय में नहीं। संबंधी भी अन्य साधुओं के शिथलाचार पर जितना गौर करते हैं उतना संबंधी साधु के शिथलाचार पर नहीं। ऐसे संबंधी जन संबंधी साधु की उन्नति के समाचारों को जानने सुनने के लिए हमेशा लालायित रहते हैं। ऐसे ही साधुओं को

दिनों-दिन अपनी उन्नति के समाचारों को अपने संबंधियों तक पहुंचाने की तीव्र उत्कण्ठा होती है कि सुनकर अति प्रसन्न होंगे। गनीमत है कि लोक लाज वश बालक की तरह प्रतिदिन माता-पिता को/संबंधियों को बताने के लिए घर नहीं जा सकता कि हम दिनों दिन कितनी उन्नती पर हैं। लोक मान्यता है कि बिल्ली के बच्चों की आंखे जब तक वह उन्हें सात घरों की दहरी न नका दे खुलती नहीं है। मेरी भी ठीक यही स्थिति है। मुनि पद रूपी दहरी पर आकर भी मोह निद्रा नहीं खुली। आपके इस उपकार/ऋण को कब और कैसे चुकाऊंगा जिसने मेरी आंखे खोली। गुरु किसे कहूँ आपको या इन्हें जो स्वयं मोह की डोर में बंधे है। घर की आर्थिक सम्पन्नता के समाचार इन्हें प्रसन्न रखता है और विपन्नता की सूचना खेद खिन्न। इस स्थिति में साधु स्वयं तो साहस नहीं कर पाता कि उनकी आर्थिक सहायत्ता करो, अपितु दूसरे साधु अवश्य घुमा फिरा कर सहायता करा देते हैं। अन्त में कहने लगे- मैं समझता हूँ कि इन्हें यात्रियों के समान परिश्रम ही हाथ लगने वाला है जो नाव को खूटी से छोड़े बिना रात भर नाविक का काम करते रहे। सोच रहे थे सुबह तक तो पहुंच ही जायेंगे, लेकिन नाव इंच भर भी आगे नहीं बढ़ी। मोक्ष मार्ग में सहोदरों के प्रति अनुराग यही करेगा।

III नकल काण्ड

36. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, अनुकरण कठिन नकल आसान।

'नकल' शब्द न जाने किस भाषा का है। काफी प्रचलित है, बदनाम के रूप में। जबकि यह कभी, कहीं किसी के लिये वरदान है तो कभी, कहीं किसी के लिए अभिशाप भी है। बालक के लिए पैदा होते ही नकल ही एक सहारा है, उपाय है। उस समय भाग्यानुसार किसी के लिए अभिशाप हो जाती है और किसी के लिए वरदान। सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करें नो पुण्यानुबंधी पुण्य एवं पुण्यानुबंधी पाप का उदय हो तो वरदान हो जाती है, लेकिन पापानुबंधी पुण्य एवं पापानुबंधी पाप का उदय हो तो अभिशाप हो जाती है नकल। वयहीन अज्ञानी हो या वयस्क अथवा वयोवृद्ध अज्ञानी हो नकल करते समय विचार नहीं कर पाता है कि यह मेरे हित में है या अहित में। वयहीन क्षम्य हैं शेष नहीं।

संस्कृत भाषा में 'अनुकरण' शब्द आता है, जो अच्छाईयों को ग्रहण करने के लिए प्रयोग किया जाता है। उसे पुण्यानुबंधी पापात्मा ही समझना चाहिए जो परंपरागत दुर्गुणों का अनुकरण न करता हो। उसे पापानुबंधी पुण्य का उदय समझना चाहिए जो परंपरागत गुणों का अनुकरण न करता हो।

योग्य पिता की संतान होने का सौभाग्य हर किसी को नहीं मिलता। हम भी इन्हीं में से हैं, अतः दुर्गुणों की नकल की। समझ आने पर स्वयं ही छोड़ दिया बिना किसी प्रेरणा के कि अब तांस कभी छुएंगे ही नहीं यह उज्जवल भविष्य की सूचना है ऐसा उस समय समझ नहीं आया था। अज्ञान दशा में मोक्षमार्ग पर चल देने वाले मैंने प्रारम्भ में गुणों का अनुकरण एवं दुर्गुणों की नकल की है। विवेक जाग्रत होने पर मैं समझता हूँ नकल करना छोड़ता जा रहा हूँ। कुछ ऐसी भी नकल का अभ्यास हो चुका है जिसका छोड़ना इस समय एवं भविष्य में छोड़ना सम्भव नहीं लग रहा है, क्योंकि नकल के इस युग में अकल ही काम नहीं कर रही है।

जैसा पिता-पुत्र का संबंध भाग्य पर ही निर्भर करता है, वैसा गुरु-शिष्य संबंध भाग्य पर ही निर्भर नहीं है, अपितु पुरुषार्थ पर भी निर्भर है अर्थात् एक-दूसरे की परीक्षा करने का पूर्ण अधिकार है कि जब तक किसी व्यक्ति में गुरु की परीक्षा करने की योगयता प्राप्त न हो जाये उसके पहले किसी का शिष्य बन जाना कहाँ तक उचित है। समस्या यह है कि शिष्य बनने से पहले गुरु की परीक्षा करने की योग्यता प्राप्त कैसे हो। परस्पर आश्रय दोष आता है -योग्यता कब आये जब किसी का शिष्य बने। शिष्य कब बने जब योग्यता आ जाये गुरु की परीक्षा करने की। कैसे भी हो योग्यता आना चाहिए।

कुछ ऐसे भी व्यसनी होते हैं जो नहीं चाहते कि हमारी संतान हमारी नकल करे। करने लग जाने पर 'चोर चोर को डांटने की तरह अधिकार कहाँ है रोक लगाने का।' जैसे शिथलाचारी गुरु को अधिकार नहीं होता वैसे ही शिष्यों पर अंकुश लगाने का। हम जैसे साधु तो स्पष्ट कह देते हैं शिष्यों से कि शरीर की स्थिति को देखते हुए विशेष साधना नहीं कर पा रहे हैं, लेकिन आप लोग मेरा ही अनुकरण मत करना। पड़ता कहाँ है कोरी बातों का प्रभाव। कुछ ऐसे भी व्यसनी होते हैं जिन्हें अपने साथ-साथ संतान की भी चिंता नहीं होती। ऐसे गुरुओं की भी कमी नहीं है। ऐसे भी लोग होते हैं जो परिवार के हित में चाहते हुए भी व्यसन नहीं कर पाते। गुरु भी इसी उद्देश्य से शिथलाचारी नहीं बरत पाते कि शिष्यों की क्या दशा होगी। असमर्थता की स्थिति में भी निर्दोष आचरण का प्रदर्शन करना होता है। व्यसनी भी मर्यादा का ध्यान रखते हैं। पिता को मालूम हो कि लड़का बीड़ी पीता है। बेटा भी जानता है कि पिता जी को ज्ञात है कि मैं बीड़ी पीता हूँ। लेकिन पिता के सामने नहीं पीता। छोटा भाई बड़े भाई के सामने नहीं। ऐसे बहुत कम ही लोग होंगे जो अपने छोटे भाई या बेटे के सामने बीड़ी न पीते हों। गुरु-शिष्य भी तो मर्यादा का ध्यान रखते हैं शिथलाचारी बरतने में लेकिन यह इस क्षेत्र में लागू नहीं होता। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गुणों का ग्रहण दुर्गुणों की अपेक्षा सहज हो जाता है। ज्ञात होने पर उतनी ही सहजता से

छोड़ देना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। आठवीं कक्षा तक पढ़ने में रुचि नहीं थी इसलिए नकल करने को उचित समझता था, लेकिन नवमीं से पढ़ने में रुचि बढ़ी तब संकल्प कर लिया अब कभी नकल नहीं करेंगे चाहे एक क्लास पास होने में तीन साल लग जायें। इसके बाद भी छुटकारा नहीं मिला नकल से। जिस समय हम मन से लिखकर तैयारी कर रहे होते थे, तब सहपाठी लोग कहा करते थे-क्यों दिमाग और आंखे खराब करता है यार। नकल तैयार कर ले तूं भी हमने तो कर ली है। किसी न किसी की नकल फसेगी ही। एक दूसरे का सहयोग करते रहेंगे। आये दिन अंध भक्त भी तो प्रेरित करते रहते हैं शिथलाचारी साधुओं की नकल करने के लिये, क्योंकि इन्हें उनसे कोई परेशानी नहीं होती। परेशानी है दृढ़ाचारियों से। इस काण्ड में यह बताने का प्रयास किया जा रहा है कि एक आचार्य दूसरे आचार्य की, एक संघ के साधु दूसरे संघ के साधुओं की, एक शिष्य दूसरे शिष्य की शिथलाचार की किस तरह निर्भीकता से नकल कर रहें हैं और सारी समाज को गुमराह कर रहे हैं।

दस में से पांच प्रश्न पूछना छात्र-छात्राओं के लिए जुआ, लाटरी, सट्टा बन गया है। मान लीजिए दो विद्यार्थियों ने सत्रह नम्बर पाने योग्य विषय तैयार किया। एक के तैयार विषय में से पूछ लिये जाने पर लिख कर पास हो जाता है और दूसरा तैयार विषय में से नहीं पूछे जाने पर फैल हो जाता है। विचारे यहाँ भाग्य सफल हुआ या पुरुषार्थ ?

एक बार एक छात्र ने पूछा- जो तैयार करके गये वह यदि प्रश्न पत्र में नहीं पूछा गया हो तो वह लिख सकते हैं जो तैयार करके ले गये हैं ? हमने कहा लिख देना चाहिए। नम्बर न दें तो पूछना चाहिए कि जो हमने लिखा है वह हमारे कोर्ष में है या नहीं ? वे कह सकते हैं- कोर्ष में तो है लेकिन जो हमने पूछा है वह नहीं लिखा गया। कहना चाहिए कि आपको तो सारे कोर्ष में से सत्रह नम्बर की योग्यता चाहिए सो उसके योग्य तैयार करके लिख दिया गया। वे कह सकते हैं ऐसी स्थिति में कोई सारा कोर्ष पढ़ेगा ही क्यों? कहीं से भी सत्रह नम्बर के योग्य तैयार करके लिख आयेगा। ऐसा कहने वालों पर आक्षेप किया जा सकता है कि पचास में से सत्रह नम्बर देकर पास घोषित कर देना भी तो यही सिद्ध कर रहा है कि सत्रह नम्बर के योग्य तैयार कर लो पूरा कोर्ष पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वे कह सकते हैं आपको पूरा कोर्ष का विषय तैयार है या नहीं इसकी परीक्षा हम कहीं से भी पूछकर कर लेते हैं। उनसे पूछना चाहिए कि आप जितने प्रश्न पूछते हैं उनमें कोर्ष का सारा विषय आ जाता है या नहीं ? यदि नहीं आता, तब जो नहीं आया उसे तैयार करना व्यर्थ चला गया। कुल मिला कर बात यह है कि परीक्षा लेने का जो ढंग है वह योग्यता प्राप्त करने को नहीं मात्र पास होने को ही प्रेरित करता है। इसी अध्याय के 'ट्यूशन लिखित परीक्षा काण्ड' में स्पष्ट किया है कि लिखित परीक्षा अनैतिकता, अनर्थो की जड़ है अत:

यहाँ विशेष रूप से कुछ न कहते हुए इतना ही कहना है कि अधिकांश साधुओं का आचरण स्पष्ट कर रहा है कि उन्हें कोरी प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। पढ़ाने में, प्रश्न पत्र बनाने में, परीक्षा लेने एवं पास फैल करने का जो तरीका लौकिकता में अपनाया जा रहा है इस पर किये तर्क की तरह गुरुओं के द्वारा अनदेखी करके बनाये जा रहे, बढ़ाये जा रहे शिष्यों की संख्या पर कोई उन्हीं से वैसे ही तर्क करें तो इनके पास सिवाय टालामटोली के तर्कों के खण्डन करने का उपाय नहीं होगा।

37. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, छात्र अनजान, शिक्षक जानकर अनजान।

बात उस समय की है जब रात्रि विश्राम हेतु एक सरकारी (शासकीय) विद्यालय में ठहरे हुए थे। सुबह शिक्षक से पूछा- यह विद्यालय बस्ती से बहुत दूर है यहाँ तक प्रतिदिन छात्र, छात्रायें पढ़ने हेतु आ जाया करते हैं ? उत्तर मिला- यहाँ तो सम्भाग एवं प्रदेश स्तर तक के लोग आ जाया करते हैं। हमने कहा- पढ़ाई अच्छी चलती होगी ? कहने लगे- पढ़ाई नहीं नकल अच्छी चलती है। हमने कहा- छात्रों को स्वाभिमानी होने/बनने/बने रहने की शिक्षा आप शिक्षकों द्वारा नहीं दी जाती क्या ? कहने लगे- मतलब आपका क्या है ? हमने कहा- नकल करने वालों को चोरों एवं भिखारियों की तरह स्वाभिमान नहीं होता। दूसरे शब्दों मे कहा जाये कि जो स्वाभिमानी होते हैं, वे कभी नकल नहीं करते/कर सकते।

दूसरी बात यह है कि नकल करना पर वंचना है या नहीं आत्म वंचना तो है ही। इससे छात्र तो अनभिज्ञ हैं ही शिक्षक भी अनजान है या जानबूझकर अनजान है। देहात का एक युवक शहर में पच्चीस मंजिल एक मकान को बड़े गौर से देख रहा था। उसकी शक्ल-सूरत से अन्दाज लगा कर एक ठग ने उससे कहा- क्यों रे। क्या देख रहा है। उसने कुछ डरते हुए कहा- मकान। कितनी मंजिल देखा ? देखा तो पूरा था लेकिन पांच ही मंजिल बताया। ठगने कहा- निकाल पांच रूपये। युवक ने जल्दी से पांच रूपये निकाल कर दे दिये। गांव लौटने पर साथियों से कहता है- साले को अच्छा बेवकूफ तो बनाया। देखो पच्चीस ही मंजिल थी, लेकिन दिये पांच के ही पांच रूपये। विचारें किसने किसको मूर्ख बनाया ? एक दूसरे ने एक दूसरे को या स्वयं को स्वयं ने।

कोई छात्र नकल करके पास हो जाता है या शिक्षकों के द्वारा नकल कराकर वह पास हो जाता है अथवा निरीक्षकों की आंख बचाकर नकल करके पास हुआ है तब उसने निरीक्षकों एवं परीक्षकों को बेवकूफ बनाया या अपने आपको विचारें ? जिस समय आप

कापी जांचते हैं उस समय यह तो समझ ही लेते हैं होंगे कि इसने नकल से लिखा है या अक्ल से ? यदि समझ लेते हैं, तब क्या आपको अधिकार नहीं है कि उस नकली लेख पर नम्बर न दिये जायें ? कहने लगे- आये दिन धर्मनीति विरुद्ध नियम बनाने, बिगाड़ने वाले नेता/शासक जनता को बेवकूफ बना रहे हैं या स्वयं को यह भी विचारणीय हैं- छात्र ने नकल से लिखा है या अक्ल से शिक्षकों का इस पर गौर न करना यह तो बहुत छोटी सी बात है। परीक्षा बोर्ड न हो तो छात्रों का पास-फैल होना उसकी योग्यता अयोग्यता पर निर्भर होना कम ही है, अपितु पूर्णता निर्भर है स्थानीय शिक्षकों पर। शासकों की लापरवाही एवं निकम्में पन के कारण निजी शैक्षणिक संस्थाओं के साथ ट्यूशनों का प्रभाव/जोर चरम सीमा पर है। शिक्षा को आजीविका के साथ-साथ व्यवसाय बना लेने वाले शिक्षकों के अनुसार उन छात्रों को ट्यूशन पढ़ना तो आवश्यक है ही जो दिमाक से मट्ठर हैं/मंद बुद्धि हैं। साथ ही उन्हें भी आवश्यक है जो बुद्धिमान हैं। जिन्होंने ट्यूशन लगा ली है उनके फैल होने का सवाल ही नहीं उठता, अपितु अच्छे नम्बरों से पास होते हुए देखे, सुने गये हैं, जिनकी उसी समय परीक्षा ले ली जाये तो शून्य ही हाथ लगे। अर्थ के अभाव में आवश्यकता होते हुए भी जो ट्यूशन नहीं पढ़ सकते इनका पास होना उनकी किस्मत में नहीं है। वे भी ट्यूशन पढ़ने वालों से मात खा जाते हैं जो अपने ही बलबूते पर प्रथम श्रेणी में ही पास होने की पूर्ण योग्यता रखते हैं। इन्हें दो दृष्टि से मात खाना पढ़ता है- एक तो इन्होंने ट्यूशन नहीं पढ़ी। दूसरी बात यह कहीं ट्यूशन पढ़ने वाले से आगे हो गया नम्बरों से तो या बराबरी पर रहा तो ट्यूशन पढने, पढ़ाने का मतलब क्या निकला। इस दूसरे कारण पर आगे विशेष रूप से विचार किया जाने वाला है।

इन ट्यूशनों के कारण अधिकांश शिक्षक स्कूल में जाकर पढ़ाने में लापरवाही बरत रहे हैं। पहला कारण यह है कि ट्यूशनों में इतना परिश्रम कर लेता है कि स्कूल के समय पढ़ाने में स्वाभाविक रूप से अरुचि हो जाती है। दूसरा कारण, यदि स्कूल में ही उचित तरीके से पढ़ाने लगें तब ट्यूशन पढ़ेगा कौन। धनवानों को टोंकते रहते हैं लड़के की कमजोरी बता कर।

38. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, चोरों, भिखारियों जैसा कहाँ है स्वाभिमान।

प्रस्तुत 'नकल काण्ड' में लौकिक शिक्षा, शिक्षक, शिष्य (छात्र) एवं शासकों की वर्तमान दशा का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए इनसे मोक्ष मार्ग में चलने वाले गुरु (आचार्य) शिष्य (साधुओं) की वर्तमान दशा की तुलना की गई है। यहाँ पर कहने में अतिश्योक्ति

नहीं होगी कि निर्ग्रन्थ होने के नाते जैन संतों में स्वाभिमान की चरम सीमा होती है। लेकिन चोरों, भिखारियों, नकल की तरह यह परिग्रह स्वाभिमान की चरम सीमा में नहीं रहने देता। इसका भी कारण नकल है। एक आचार्य ने अन्य संघ के एक क्षुल्लक से उनके गुरु के ऊपर आक्षेप करते हुए कहा- तुम्हारे गुरु तो दो-दो गाड़ियाँ रखते हैं। उन्होंने सफाई दी कि राष्ट्रीय संत की उपाधि से विभूषित आचार्य गाड़ियां साथ में लेकर चलते है तब अल्पज्ञ उनकी नकल करें इसमें आश्चर्य क्या है। अल्पज्ञ विवेकी भी होते हैं अत: नकल उन्हीं की करते हैं जिससे स्वाभिमान में ठेस न लगे, सुरक्षित रहे। ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्यात्मा आचार्य, साधु, आर्यिका आदि सुनने में नहीं आते कि जिनके पीछे, आगे उनकी व्यवस्था के लिए उन्हीं के निमित्त उनके अंध भक्तों द्वारा दौड़ाए जाने वाले वाहनों के द्वारा होने वाली व्यवस्था की वे सर्वथा, सर्वत्र उपेक्षा कर देते हों अर्थात् स्वीकारते न हो। स्वीकारने वालों को पापानुबंधी पुण्यात्मा समझना चाहिए। इनमें अधिकांश ऐसे भी होते हैं जो लज्जा नहीं गौरव का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें हीन दृष्टि से देखते हैं जिन्हें इनकी नकल करने पर भी सफलता नहीं मिलती। ऐसे पापानुबंधी पापात्माओं के मुख से कहते हुए सुना भी जाता है कि आप लोगों ने अमुख आचार्य को संघ सहित शिखर जी यात्रा कराई है। हमें भी क्यों नहीं करा देते। साधुओं को धर्मात्मा नहीं पुण्यात्मा की दृष्टि मे देखकर सेवा करने वाले भक्त ने आक्षेप किया- महाराज ! आप में और उनमें काफी अन्तर है। कैसे ? उपरोक्त आचार्य जब प्रतिदिन की तरह आहारचर्या के लिये निकले। पहले चौके में विधि नहीं मिली आगे निकल गये। भक्त दाता आपस में चर्चा कर रहे थे कि आज बडी आशा थी कि आचार्य जी की विधि यहीं मिलेगी, लेकिन भाग्य में तो आज लगता है कोई साधु नहीं आयेंगे। सभी आगे बढ़ गये। वहीं पर खड़े जैनेतर साधु पास में आकर कहने लगे- वे नहीं आये तो क्या हुआ हमें करा दो भोजन। वे साधु सो हम साधु। क्या अन्तर उनमें और हममें। दाता पण्डित थे। कहने लगे- अन्तर तो केवल इतना ही है कि हम उनके पीछे पड़े हैं कि उनके आहार हमारे यहाँ हो जाते और आप हमारे पीछे पड़े कि हमारे आहार आपके यहाँ हो जायें। इस घटना का उल्लेख कर भक्त कहने लगे- उपरोक्त आचार्य के पीछे हम वर्षों से पड़े थे कि आप के साथ सम्वेद शिखर यात्रा करना है और आप हमारे पीछे पड़े हैं। इतना ही नहीं आप जैसे अधिकांश साधु क्षेत्र निर्माण क्षेत्र जीर्णोद्धार के लिए दाताओं के चक्कर काटते हैं और हम जैसे दाता उपरोक्त आचार्य के पीछे पड़े रहते हैं कि उनके सानिध्य में क्षेत्र व्यवस्थित हो जाये।

जिनके इशारे से एवं कदम रख देने मात्र से गाड़ियां आगे पीछे दौड़ने लगती हैं वे उन्हें हीन दृष्टि से देखते हैं जो दाताओं के पीछे पड़कर व्यवस्था करवा लेते हैं या कहने पर भी जिनकी व्यवस्था नहीं हो पाती या कुछ गिने चुने पुण्यानुबंधी पापात्मा है जो स्वावलंबी

रहते हुए ही विहार करते हैं। कदाचित लज्जा का अनुभव करते हुए उपरोक्त व्यवस्था को स्वीकार लेते हैं। इन्हें भी हीन दृष्टि से देखते हैं। सक्रियता से व्यवस्था करके चलने वाले भी इन्हें हीन दृष्टि से देखते हैं। उन्हें भी देखते हैं जो व्यवस्थापकों के पीछे पड़कर भी असफल रह जाते हैं। इन सभी में नग्नत्व के स्वाभिमान को वे ही साधु सुरक्षित रख पा रहे हैं जो अंध भक्तों द्वारा जुटाई जा रही व्यवस्थाओं की शक्ति के अनुसार उपेक्षा कर देते हैं। अत: साधुओं को चाहिए कि अपने संचित पुण्य पाप की समीक्षा करते हुए उन्हीं साधुओं का अनुकरण करें जो नग्नत्व के स्वाभिमान को सुरक्षित रखते हुए चल रहे हैं।

39. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, निजहित नहीं, परहित हेतु दे दूंगा में अपनी जान।

जगह-जगह बोर्ड पर लिखे- "दुर्घटना से देर भली" सरकार के इस निर्देश को अन्यथा सिद्ध (झुठला) कर देना चाहते हैं द्रुत (तेज) गति से चलने वाले या वैसा चलना जिनकी आदत में आ गया है कि "दुर्घटना से देर भली" नहीं अपितु "देर से दुर्घटना भली"। दुर्घटना के भय से धीरे चलना भुजदिली है, शान के खिलाफ है। इनका तेज चलना सरकार को चुनौती दे रहा है। साधु के स्वाभिमान को डुबो देने वाले परिग्रह को साथ में लेकर चलने वाले और इसी के बल पर अधिक से अधिक शिष्यों को बटोर कर पर कल्याण की दम भरने वाले साधुओं के कृत्य से लगता है कि वे कुन्द कुन्द देव के इस निर्देश को चुनौति दे रहे हैं कि "आदहिदं का दव्वं जं सक्कइ तं पर हिदं वि का दव्वं" नहीं, अपितु "परहिदं का दव्वं जं सक्कइ तं आद हिदं वि कादव्वं" ऐसा होना चाहिए। इतना ही नहीं -आदहिद पर हिदादो आदहिदं सुहु कादव्वं' की जगह पर हिदं सुट्ठु कादव्वं" ऐसा होना चाहिए। कहें भले ही न, कृत्य कह रहा है कि आत्महित को ही अच्छी तरह करने पर जोर देना निंदनीय स्वार्थ है, स्पष्ट रूप से मानवता के खिलाफ है। दूसरों के लिए लोग सब कुछ न्योछावर कर देते हैं लोक व्यवहार में, परमार्थ में ठीक इससे विपरीत क्यों है ? दुर्घटना होना है होगी चाहे तेज चलो या धीरे। यह जरुरी नहीं है कि तेज चलने वाले ही घटना ग्रस्त होते हों धीमे चलने वाले भी हो जाते हैं अत: धीमे चलने पर ही जोर नहीं देना चाहिए। उसी प्रकार आत्म कल्याण देर अवेर जब होना है होगा चाहे पर कल्याण को गौण करो या मुख्य। ऐसा तो है नहीं कि पर कल्याण को मुख्यता देने वालों का आत्म कल्याण होता ही न हो अत: आत्मकल्याण पर ही बल नहीं देना चाहिए। ऐसी सोच वालों पर हंसी के साथ-साथ एक घटना भी याद आ गई- एक लड़के की उसकी मां से शिकायत की कि तुम्हारा लड़का सिगरेट पीता है। मां ने कहा-पीने दो। अभी नहीं पियेगा

तो क्या बुढ़ापे में पियेगा। इसी प्रकार सीना ठोककर कहा भले ही न जाये लेकिन दिन/रात्रि की चर्चा बता रही है कि पर कल्याण अभी नहीं करेंगे तो क्या बुढ़ापे में करेंगे।

भक्त प्रायः प्रतिदिन ही चावल चढ़ाया करते हैं और चिड़ियाँ भी प्रायः चुगने आया करती हैं। देखा यह गया कि जब वह अपने बच्चों के लिए ले जाती है या ले जाना हो तो इतनी भयभीत नहीं होती/रहती जितनी की वह स्वयं के लिए चुगते समय भयभीत रहती है ठीक यही स्थिति मानवों की होती है। दूसरों के लिए अपराध करने वाला स्वयं एवं दूसरों की दृष्टि में इतना अपराधी नहीं माना जाता जितना स्वयं के लिए अपराध करने पर दोषी माना जाता है। साधुओं की भी ठीक यही स्थिति हो तब क्या परमार्थ भी उसे निर्दोष स्वीकार कर लेगा कि साधु अपने लिये नहीं शिष्यों के आगम विरुद्ध चल रहा है और जैसे जैसे शिष्य समुदाय बढ़ता जाता है वैसे वैसे उसके कदम आगम विरुद्धता की ओर बढ़ते जाते हैं, निर्भयता से। ऐसे गणपोषक को उपलनाव समझना चाहिए। साथ ही स्व-पर वंचक भी समझा जाये।

एक प्रिंसीपाल साहब से पूछा- आपके इस स्कूल/कालेज में बहुत कम छात्र हैं। कहने लगे- कमी इसलिए है कि यहाँ ऐसे छात्रों को नहीं रखा जाता जो मेट्रिक पास का प्रमाणपत्र तो लिए हैं, लेकिन पूछने पर ज्ञात हो जाता है कि उन्हें प्राइमरी का भी ज्ञान नहीं है। ऐसे छात्रों को रखकर करें क्या। लाभ क्या है बदनामी के अतिरिक्त। जो अपने लिये आगम विरुद्ध चलने के समान दूसरों के लिए भी आगम विरुद्ध चलना अपराध समझते हों उनका शिष्य समुदाय सीमित होना स्वाभाविक है। ऐसा होना इस युग में उसकी प्रभावहीनता मानी जाती है। इसकी उसे चिन्ता नहीं होती। स्वाभिमान तो सुरक्षित रहता है अतिवाल, अतिवृद्ध आदि लोगों को शिष्य बनाकर उनकी व्यवस्था के लिये गृहस्थों के सामने हाथ जोड़ दयनीयता प्रगट कर अर्थात् भीख मांग कर स्वाभिमान बेचने की अपेक्षा।

40. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, शिष्य में चूहे गुरु में बिल्ली के निशान।

इस प्रकरण में असमय में शिष्य बन जाने के साथ ही असमय में ही गुरु बन जाने के परिणाम विशेष रूप से विचारणीय है। उचित तो नहीं हुआ, लेकिन वास्तविकता सामने आ गई, आती जा रही है कि तुम इस दिगम्बरत्व का स्वाभिमान आत्म कल्याण करते हुए भी सुरक्षित नहीं रख पा रहे हो, कारण कि शारीरिक शक्ति की हीनता के साथ-साथ उसकी सरोग दशा एवं छोटी-छोटी प्रतिकूलताओं से भी न जूझ सकने वाली मानसिकता, भक्तों का स्वार्थ एवं पक्षपात पूर्ण व्यवहार, कर्तव्य के प्रति उपेक्षा उसे सुरक्षित रखने में

बाधक बन रहा है। ऐसी प्रतिकूलताओं के रहते हुए पर कल्याण के प्रति सक्रियता स्वाभिमान को सर्वथा ले डूबने वाली है। गुरु बनते समय भी तो यह ज्ञान में नहीं आया कि आत्म कल्याण करते हुए जो कुछ स्वाभिमान सुरक्षित है वह भी गुरु बनने पर सुरक्षित रख सकोगे। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस समय शिक्षा का काल चल रहा था उसी समय गण पोषण करने का दुष्साहस भी कर बैठा। परिणाम इसका यह हुआ कि किसी एक को भी ढंग से नहीं कर पाया। लगा कि किसी विद्यार्थी को अध्ययन के समय में ही घर बसा लेने पर अध्ययन से हाथ धोना पड़े हों। आत्म कल्याण करते हुए पर कल्याण करने की सामर्थ्य एवं योग्यता होते हुए भी विशेष पुण्य साथ न हो तो सामर्थ्य एवं योग्यता उस पुण्य के बिना पंगु है जिसके रहते सेवक आगे-पीछे होते रहते हैं। यह बात हम अच्छी तरह समझ चुके हैं कि योग्यता के होते हुए भी सामर्थ्य एवं पुण्य का अभाव है।

जिस समय संख्या सीमित थी उस समय गर्भपात कराना, करना महा अपराध था, लेकिन अब निरपराधी ही नहीं ससम्मान पारितोषक (इनाम) पाते हैं गर्भपात करने, करवाने वाले। अपराध तो अपराध ही है कर्म की दृष्टि में वह देर, अवेर दण्ड ही देगा इनाम नहीं। जनसंख्या बढ़ने पर उसकी दृष्टि में गर्भपात करना निरपराध नहीं हो सकता। संख्या पर नियंत्रण करने वालों का मानना है - गर्भपात, आपरेशन एवं नसबंदी के बिना संख्या पर नियंत्रण हो नहीं सकता। संयम की दृष्टि से विचार किया जाये तो इनका ख्याल मिथ्या है। इससे ठीक विपरीत हमारा अनुभव कहता है- आगम विरुद्ध चले बिना अर्थात् आडम्बर साथ लेकर चले बिना अधिक से अधिक शिष्यों का संग्रह एवं संरक्षण हो नहीं सकता यह अनुभव हमारा अन्यथा नहीं है। कुन्द कुन्द देव के समय में साधुओं के साथ आडम्बर निंदनीय रहा है अन्यथा वे क्यों कहते कि साधुओं को ऐसी कोई चीज नहीं रखना चाहिए जो असंयमियों से प्रार्थनीय हो। किन्तु अब आडम्बर रखना प्रशंसनीय है/ सम्मानीय है सरकार के गर्भपात कानूनी निरपराध घोषणा के समान खासकर अंध भक्तों की दृष्टि में।

ससंघ श्वेताम्बर साध्वी के लिए एक दिगम्बर आम्नाय के विद्वान ने प्रवचन सार पढ़ाया। अन्त में उन्हीं से पूछा यह सब सही है ? उन्होंने कहा- हाँ। तब इसी आम्नाय को स्वीकार कर लीजिए। कहने लगी- इनका क्या होगा जो ये हमारे ही आश्रित हैं अर्थात् ये आश्रितों के लिए श्रद्धाहीन बनीं रहना चाहती हैं। आडम्बर रखने वाले साधु भी स्वीकारते हैं कि गलत है। छोड़ने की बात आती है तब यही समस्या सामने आती है कि आश्रितों का क्या होगा। धन्य है इन गुरुओं की उदारता जो परोपकार के लिए हर क्षण समाधि नहीं मौत को स्वीकारते हैं, परिग्रह संरक्षण रौद्र ध्यान में अधिकांश समय गुजारते हुए, तब क्या ये अंत में समाधि का मुंह देख सकेंगे ? आडम्बर के बल पर अधिक से अधिक शिष्य

बनाकर लोक पूजा की चाह समाधि में बाधक है। प्रश्न उठता है- अध्यात्म में शिष्य को परिग्रह कहा है। ''ब्रह्मारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुष:'' के अनुसार आचार्य के लिए शिष्य परिग्रह नरक आयु का कारण हो सकता है क्या ? हाँ, यदि शिष्य में बिल्ली की चूहे जैसी आसक्ति हो। एक शिष्य दूसरे को गुरु बनाने वाला था। मालूम पड़ने पर दादा भक्तों के द्वारा दादागिरि से उठवा लिया गया। ये उपरोक्त गति के पात्र होंगे।

41. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, आज्ञानुवर्ती में महत्वाकांक्षा की पहचान।

काफी जोर पकड़े हुए है मांस निर्यात का समर्थन करते हुए मांस निर्यात का विरोध। गणपोषक या तो इससे अनजान हैं या गणपोषण की गृद्धता इन्हें जानकर अनजान बनाये हुए है। निम्नलिखित तरीके से वाहनों के प्रयोग के बिना न हो सकने वाले गणपोषण से ही मांस निर्यात का समर्थन सिद्ध हो जाता है। ''आचार्य समीक्षा'' में देखा जा सकता है।

चातुर्मास समाप्ति के बाद से लेकर अगला चातुर्मास प्रारम्भ होने तक आग्रह प्रारम्भ हो जाता है चातुर्मास करने के लिए। वे तो हमसे ही स्वीकृति मांगते हैं जिन्हें हमारे विषय में जानकारी है। जिन्हें नहीं है, वे हमसे तो मांगते ही हैं साथ ही तत्काल स्वीकृति न मिले या सम्भावना व्यक्त की जाये तो गुरु की स्वीकृति मांगने के लिए स्वीकृति मांगने लगते हैं, क्योंकि ऐसा होना प्रारम्भ हो चुका है। साथ ही धीरे-धीरे जोर भी पकड़ता जा रहा है एक दूसरे की नकल के कारण। हमारा कहना होता है- हमें स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है। अभी तक तो नहीं ली, शायद आगे भी इसकी आवश्यकता नहीं है। क्यों ? क्योंकि चातुर्मास आदि करने के विषय में निर्णय करने हम स्वयं समर्थ हैं। आक्षेप हुआ कि आपके अभिप्राय के अनुसार जो साधु स्वीकृति लेते हैं उनमें किसी भी कार्य के लिए स्वयं निर्णय लेने की क्षमता नहीं है ? यह तो स्वीकृति लेने-देने वालों से ही पूछा जाये। हो सकता है समर्थ होते हुए भी 'आज्ञानुवर्ती होना' यह उपाधि स्वयं निर्णय लेने में बाधक बन रही हो। कहा जाता है - क्या 'आज्ञानुवर्ती' नहीं होना चाहिए ? होना चाहिए और नहीं भी। कैसे ? जिस समय जिस कार्य को करने में आगम आज्ञानुवर्ती होने में बाधा न आती हो वहाँ गुरु आज्ञानुवर्ती होना चाहिए अन्यथा नहीं। शिष्यों के आज्ञानुवर्ती होने में उन्हीं का नहीं गुरु का महत्व भी प्रगट होता है। यह तो ठीक ही है, लेकिन गुरु आज्ञानुवर्ती होने में गुरु-शिष्य दोनों में महत्वाकांक्षा प्रगट हो रही हो तो आज्ञानुवर्ती होना गुरु शिष्य के लिए ही नहीं सारी समाज को अभिशाप है जो इस समय स्पष्ट दिख रहा है जिनागम की आज्ञा के उल्लंघन के रूप में।

इस समय किसी साधु का चातुर्मास कराना तो महंगा पड़ता ही है। कभी-कभी किसी साधु के चातुर्मास की उसके गुरु से स्वीकृति लेना चातुर्मास कराने से भी महंगा पड़ जाता है। कैसे ? लगभग आठ माह में कम से कम आठ दस जगह के लोग अपने अपने गांव, शहर, क्षेत्र में चातुर्मास की स्वीकृति लेने के लिए सौ, दौ सौ, पांच सौ, हजार किलो मीटर दूर सैकड़ों की संख्या में जायेंगे तब कुल खर्च कितना होगा ? किसी गांव के लोगों का आग्रह होने पर साधुओं का एक ही तो आदेश होता है कि आज्ञा लेकर आओ। तब आग्रह करने वाले उपरोक्त दूरी पैदल तो तय कर नहीं सकते। किसी ने इनके इस अनुचित आदेश का पालन नहीं किया या आर्थिक दृष्टि से वैसा करने में समर्थ न हों तो साधु समझ लेगा कि उनमें चातुर्मास कराने की तीव्र इच्छा नहीं है या खर्च करने से डरते हैं। ऐसी स्थिति में उनके यहाँ चातुर्मास होना सम्भव नहीं है। ऐसे ही आज्ञानुवर्तियों से एक वकील ने कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा-हमें बड़ी प्रसन्नता है कि आपने हमारा आग्रह स्वीकार करके हमारे यहाँ आने की अनुकम्पा की। होने जा रहे विधान में भी आपका सानिध्य रहेगा यह आग्रह भी स्वीकार लीजिए। संघ प्रमुख का आदेश हुआ कि गुरु आज्ञा लेकर आईये। उन्होंने कहा- आप और आप जैसे साधु प्रत्येक कदम गुरु आज्ञा से ही रखते हैं क्या ? जबाव मिला हाँ। तब आपने पहले आग्रह पर गुरु आज्ञा लाने का हमें आदेश क्यों नहीं दिया ? ऐसा अकाट्य तर्क करने वाला इनके लिए महाअवज्ञ है। शायद है कभी ऐसे लोगों का ऐसे साधु कोई भी आग्रह स्वीकारें या फिर इन्हें हर किसी के आग्रह को स्वीकारने एवं न स्वीकारने के लिए आदेश देना होगा कि स्वीकृति लेनी होगी। अन्यथा हर कदम पर गुरु अवज्ञा का मुंह देखना होगा। एक बात और है किसी के आग्रह को स्वीकारने के लिए स्वीकृति की तरह नहीं स्वीकारने के लिए भी स्वीकृति लेनी चाहिए तभी आज्ञानुवर्ती होना माना जायेगा।

फिजूल (व्यर्थ) के खर्च से बचने के लिए गांव के एक दो व्यक्तियों को स्वीकृति लेने के लिए भेजा जाये तो उनके आग्रह पर भी चातुर्मास सम्भव नहीं है, क्योंकि सीमित लोगों के द्वारा किये जाने वाले आग्रह को औपचारिकता समझा जायेगा। चातुर्मास कराने की तीव्राकांक्षा उन्हीं की समझी जाती है जहाँ के लोग चार-छह चक्कर लगाकर दस पचास हजार रूपये खर्च कर दें। भले ही चातुर्मास कराने में प्रतिस्पर्धा जैसा कोई स्वार्थ हो।

जिस किसी के आग्रह करने पर साधु स्पष्ट रूप से मना तो कर नहीं सकता कि हम तुम्हारे यहाँ चातुर्मास नहीं कर सकते या नहीं करेंगे, भले ही साधु को वहाँ अनुकूलता न हो या करना ही न चाहता हो और आदत के अनुसार कह दे- गुरु आज्ञा लेकर आओ। संयोगवश ऐसे स्थान पर करने के लिए स्वीकृति मिल जाये तब तो आज्ञानुवर्ती शिष्य को

वेमन से ही चातुर्मास करना/कराना होगा या पिर आज्ञा उल्लंघन के कोप का भाजन बनना होगा। होता भी ऐसा है। उस समय तो ऐसी स्थिति बन ही जाती है जब लोग सीधे गुरु से ही स्वीकृति मांगने लगते हैं कि हमें चातुर्मास हेतु कोई साधु चाहिए। किसी साधु का चातुर्मास कराने की स्वीकृति मिल जाने पर करने, कराने वालों में परस्पर में अनुकूलता मिल जाये तब तो ठीक है अन्यथा किसी एक को या दोनों को आचार्य के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। समाज को साधु रास न आये और उनसे निवेदन न करे और कहीं साधु को समाज रास न आये और निवेदन करने पर भी न जाये। ऐसी स्थिति में शिष्य या समाज ही दोषी है गणपोषक दूध के धोय हैं। एक गणपोषक का दो शिष्यों के लिए आदेश हुआ कि वे अमुक शहर में पहुंच कर वहाँ चातुर्मास करें, लेकिन ये चाहते नहीं थे वहाँ चातुर्मास करना। जहाँ चाहते थे करना वहाँ के लोगों को जबर्दस्त प्रेरित कर रहे थे- जाओ आचार्य श्री से आज्ञा लेकर आओ। लोगों के पहुँचने पर आचार्य का आदेश हुआ कि जब उन्हे वहाँ का आदेश हुआ है फिर वे आपके यहाँ रुके क्यों हैं। पहले वे वहाँ पहुँचे और लिखकर भेजे कि उन्हें वहाँ प्रतिकूलताएं क्या हैं उसके बाद हम पुनः आदेश करेंगे। इसके अतिरिक्त स्वीकृति देने-लेने हेतु समाज के बीच में गुरु-शिष्यों के द्वारा 'चूहे की जान जाये बिल्ली का खिलौना' के अनुसार खेले जाने वाले नाटकों से भुक्त भोगी अच्छी तरह से परिचित हैं। चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य समय में शीतकालीन, ग्रीष्मकालीन वाचना, पूजन एवं शिक्षण शिविर, या कोई धार्मिक आयोजनों के लिए भी आज्ञानुवर्ती लोगों को स्वीकृति की आवश्यकता है। इनके लिए भी स्वयं निर्णय लेने की योग्यता नहीं है। भले ही व्यर्थ का खर्च कराने वाली स्वीकृतियों की मुझे आवश्यकता नही है, लेकिन जिनका मैंने कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग किया ऐसे वाहनों के प्रयोग का मैं कारित एवं अनुमोदना से त्याग नहीं कर पा रहा हूँ। इन दो दृष्टि से भी जीवन भर में त्याग कर सकूंगा ऐसे आसार समझ में नहीं आ रहे हैं।

42. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, सुनते ही खून सूखता है महाराज का सामान।

यदा कदाचित् उन साधुओं की जो स्वयं पैदल चलते हुए प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को वाहन में लेकर चलते हैं, उन प्रतिष्ठाचार्य पण्डितों की जो प्रतिष्ठित मूर्तियों को वाहनों में ले जाने की छूट दे चुके हैं, उन भक्तों की जो चल समारोहों में प्रतिमा जी को वाहनों में विराजमान कर विमान उत्सव करते हैं की आलोचना करता रहता हूँ। ऐसा करते समय यह भूल जाता हूँ कि स्वयं पैदल विहार करते हुए भी साथ में रखे जाने वाले शास्त्रों को वाहन

में रखकर ही लाये ले जाये जाते हैं। वाहनों के माध्यम से लाये ले जाये जाने वाले शास्त्रों की अविनय को तो हमने अपनी आंखों से देखा है, इतनी अविनय प्रतिष्ठित मूर्तियों की कभी नहीं होती होगी। जब यह बात दिमाक में आती है तब सोचता हूँ किस मुंह से कहूँ कि प्रतिष्ठित मूर्तियां वाहनों में नहीं लाना ले जाना चाहिए।

कुछ ही समय के लिए सौभाग्य मिला था कंधे पर विराजमान/रखकर शास्त्रों को ले जाने का विहार करते हुए। सुखपूर्वक विहार हो अर्थात् विशेष रूप से भार का अनुभव न हो इसलिए सीमित शास्त्र साथ में रखे जाते थे, लेकिन जब वाहनों पर ढोये जाने लगे तब थोड़ी भी हिचकिचाहट नहीं होती मन माने शास्त्रों को साथ में ले जाने में। महाराज का सामान लाना ले जाना है या महाराज का सामान लाये/ले जा रहे हैं, ऐसे वाक्य जब कानों मे पड़ते हैं तब लज्जा की अनुभूति तो होती ही है खून भी सूखता सा समझ में आता है। विचार आता है- स्वाभिमान को बट्टा लगाने वाली चटाई तो वर्तमान में छूट गई है 'सामान' नाम से कहे जाने लगे-शास्त्र भी छूट सकेंगे? पिच्छी-कमण्डल की तरह शास्त्रों को भी दिगम्बर साधु हाथ में या कंधे पर टांग कर ले जाने लगे, तब कैसा अटपटा-सा लगेगा। ऐसा हम स्वयं अनुभव करते हैं कि स्वाभिमान में ठेस लगी, लग रही है या लगेगी। शास्त्र हाथ में रखकर ले जाना शास्त्र सम्मत होते हुए भी लोक विरुद्ध जैसा प्रतीत होता है। हमारे ही शिष्य जो मुनि हैं। एक दिन स्वयं शास्त्र का थैला कंधे पर टांग कर चलने लगे। भक्तों ने झट से अपने हाथों में ले लिया। ऐसा कहते हुए कि ऐसा करना आपको शोभा नहीं देता अर्थात लोक विरुद्ध है। और वाहनों में ले जाना धर्म विरुद्ध है।

43. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, खोजने पर निकल आये समस्या का समाधान।

मन की चंचलता को देखते हुए शास्त्र अनिवार्य उपकरण है। अब ऐसा कोई उपाय अपनाना/निकालना होगा कि जो दोनों के विरुद्ध न हो। सभी साधु को एक जैसा ही उपाय अपनाया जा सकना तो सम्भव ही नहीं है। जगह-जगह शास्त्रों की प्रचुरता को देखते हुए एवं अपने निमित्त हो रही उनकी अविनय को देखते हुए जब-कभी भी विचार आ जाते हैं कि क्यों न, हमेशा के लिए नहीं, कुछ समय के लिए मात्र पिच्छी कमण्डल के साथ ही आहार, विहार, निहार एवं आवास का सहारा लेकर साधना की जाये। जहाँ रुकें वहीं जो शास्त्र उपलब्ध हुआ उसी का अध्ययन कर लिया। ऐसा करने के लिए कोई हमारे ही जैसा निर्ग्रन्थ साधु साथ देने के लिए सहमत हो जाये तब तो सम्भव है अन्यथा एकल विहारी

होने पर लोगों.की अंगुली उठेंगीं। कोई वस्त्र धारी साथ दे तो निरालंब एवं निराकुलता नहीं आ सकती। अनुकूल साथी मिलने पर वैसा विहार आदि होने भी लगे, लेकिन वह गणपोषण का काल नहीं कहलायेगा वह तो आत्म संस्कार काल या उसकी भूमिका होगी। इस समय गणपोषण करने वाला उपरोक्त तरीके की साधना न कर सकता है और न करा सकता है। उसे तो किसी न किसी विरुद्धता का सहारा तो लेना ही होगा जिससे किसी एक के स्वाभिमान को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। यह बात सर्व जनों की ओर से कही जा सकती है कि धर्म विरुद्धता से अपने आपको बचाना ही स्व-पर के हित में है। धर्म एवं लोक विरुद्धता दोनों से बचने के लिए वाहनों की अपेक्षा कमण्डल लेकर साथ चलने वाले भक्तों से ही शास्त्रों का ले जाना स्वीकार किया जाये, लेकिन वाहनों के इस युग में सभी गण पोषकों के लिए सम्भव नहीं है। घर से पैदल मंदिर जाने में पांच-सात मिनिट का समय लगता हो तो आज का भक्त वाहन का सहारा लेता है, तब क्या उनसे आशा की जा सकती है कि साधुओं के शास्त्र ले जाने में सहयोगी बन सकेंगे। साथ में लेकर चलने की छोड़िये वाहन में ले जाकर पहुंचाने की फुर्सत नहीं है। माली, पुजारी, या वेतन सेवी नौकरों के द्वारा भेज दिये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा साधु के कमण्डल भी लाये ले जाये जाने लगे हैं। स्कूल, कालेजों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों की अविनय एवं मंदिर में होने वाली शास्त्रों की विनय को हमने एक साथ देखा एवं किया है। पाठ्य पुस्तकों के अविनय के संस्कार के परिणाम स्वरूप शास्त्रों का अविनय देखकर इतना दु:ख नहीं होता जितना होना चाहिए। शास्त्रों की जितनी विनय होती देखी उतनी इस समय नहीं होती अत: दु:ख भी होता है। जैन पोस्ट मास्टर कह रहे थे- महाराज ! खास कर शास्त्रों को तो पोस्ट के माध्यम से बुलवाना एवं भेजना नहीं चाहिए। मुझे उस समय बहुत दु:ख होता है उनकी अविनय को देख कर जब भटा भाजी जैसे उठाये रखे जाते हैं। हमने कहा- हर एक गणपोषण को सलाह दी जाये।

44. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, साधक ऐसा हो जैसे मिलेक्ट्री का जबान।

रोग एवं राग रोग दोनों ही बाधक हैं साधक की साधना में। रोग की अपेक्षा राग रोग अधिक अहित कर है। विषयानुराग, सहोदरानुराग एवं सहधर्मानुराग के भेद से तीन प्रकार का है। दो के विषय में पीछे कहा जा चुका है विषयानुराग के विषय में आगे कहा जायेगा। शरीर गत रोगों की कोई गिनती नहीं है। किसी को किसी भी प्रकार की दीक्षा देने से पहले,

पिच्छी (प्रमाण पत्र) पकड़ाने से पहले उसमें देखाना होगा कि वह दोनों से या दोनों में से किसी एक रोग से ग्रस्त तो नहीं है। भावुक (नकली) वैरागी की दशा बन ठन कर सोये या बेहोश (अचेत) हुए व्यक्ति जैसी होती है जिसे जगाना या होश में लाना कठिन होता है अर्थात् अपनी चेतना शक्ति को तनिक भी व्यक्त नहीं होने देता। ठीक इसी प्रकार भावुक वैरागी में भी किसी भी प्रकार के राग की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। हो सकता है - वास्तविक वैरागी भी पीछे रह जाये राग को दबाने में। पिच्छी इस प्रमाण पत्र के प्रलोभन में राग रोगों को तो दबाता ही है असाध्य रोगों को भी दबाने प्रयास करता है। पापानुबंधी पुण्य का उदय हो तो तत्काल तो पिच्छी पाने में सफलता प्राप्त कर लेता है और जब वह रोग धीरे-धीरे प्रगट होकर सामने आ जाता है, तब स्वयं ही पिच्छी छूटने तक की स्थिति आ जाती है। उस समय शायद समझ में आ जाता है कि मैंने गुरु को नहीं, समाज को नहीं स्वयं को धोखा दिया था। यह तो हुई स्वयं को धोखा देने वाले शिष्यों की बात। अब गणपोषक के विषय में विचार करें।

मिलेक्ट्री में भर्ती होने वाले की मेडीकल जांच होती है कि यह किसी असाध्य रोग से ग्रस्त तो नहीं है या जब तक भर्ती रहेगा तब तक कोई असाध्य रोग से पीड़ित तो नहीं होगा। निकट भविष्य में ऐसी कोई सम्भावना हो तो उसे अयोग्य समझ भर्ती नहीं किया जाता। सैकड़ों फुट ऊपर से कुंदा कर साहस की परीक्षा भी तो ली जाती है। शास्त्रों में रोगी को दीक्षा देने का निषेध किया है। गणपोषक को चाहिए कि वे किसी को संघ में भर्ती करने से पहले उसके शरीर एव धैर्य की उपरोक्त तरीके से जांच करें या दूसरों से करवायें, क्योंकि किसी को संघ में प्रवेश कराना मिलेक्ट्री में भर्ती करने से भी बढ़कर है अयोग्य व्यक्ति जिस किसी तरह प्रमाण पत्र के, रिश्वत के आधार पर नौकरी पा जाये, लेकिन उसकी अयोग्यता छुपी नहीं रह सकती। इसके बाद भी कानून के अनुसार उसे नौकरी से हटाया नहीं जा सकता। छुपाये गये रोगों की अभिव्यक्ति कभी किसी के न हो ऐसा कैसे हो सकता है, अभिव्यक्ति (प्रगट) होने पर उसे स्वयं उस पद से हटना होगा ही। अन्यथा आनाकानी करने पर हटाना होगा। गणपोषकों की अनदेखी के कारण आये समय ऐसा होता रहता है अतः सेवकों की अन्य साधुओं की सेवा के प्रति उदासीन होते जाना स्पष्ट रूप से देखा जा रहा है कि जिसकी सेवा कर रहा हूँ पता नहीं कब ...।

पीछे शिक्षक से पूछा था कि आपको ज्ञात हो जाये कि अमुक छात्र ने नकल से लिखा है, तब क्या आपको अधिकारी नहीं है कि उस नकली लेख पर नम्बर न दिए जायें। उसी प्रकार किसी आचार्य से पूछा जाये कि आप किसी शिष्य के विषय में यह तो समझ

ही लेते होंगे कि यह पास होकर अर्थात् किसी भी तरह पिच्छी लेकर नौकरी की तरह ख्याति, पूजा, लाभ (स्वर्ग) चाहता है या योग्यता प्राप्त कर पिच्छी पकड़ कर मोक्ष चाहता है ? यदि पहला लक्ष्य हो तब तो आचार्य को पूरा-पूरा अधिकार है कि उसे भर्ती ही न करें। उन्हें कोई कानून तो बाध्य करेगा नहीं।

हमने सभी अवस्थाओं से गुजरते हुए मुनि पद प्राप्त किया है, अत: विद्यार्थियों की तरह साथियों में आपस में प्रतिस्पर्धा होती हुई देखी ही है स्वयं प्रतिस्पर्धा भी की है। विद्यार्थी पढ़े अथवा न पढ़े फिर भी अपने साथियों से पीछे नहीं रहना चाहता, फैल होकर। साथ वाले आगे हो जायें, पीछे वाले साथ हो जायें या पीछे वाले आगे हो जायें या में पीछे वालों के साथ होता चला जाऊं यह अपमान कौन सहेगा। सभी में एक-दो फेल हो रहे हों तो शिक्षक दया करके पास कर देते हैं जानते हुए भी कि यह आगे के योग्य नहीं है।

ठीक यही स्थिति मोक्ष मार्ग में साधकों की होती है। आगे बढ़ने योग्य साधना कर रहे हों या नहीं। समकक्ष को आगे एवं पीछे वालों को समकक्ष होना नहीं देख सकते। देखा यह भी गया है- जिस पद पर जिस समय जो आसीन है वह जब तक आगे न बढ़ जाये तब तक नीचे वाले उस पद पर न आ जायें। आने की सम्भावना हो जाये, दिखने लगे तो विघ्न डालने वालों को विघ्न डालते हुए भी देखा है। साधकों की ऐसी कुत्सित भावना को जानते हुए भी नकली लेख पर भी नम्बर देने वाले या सरकार के नियम कें अनुसार देने के लिए मजबूर होने वाले शिक्षक के समान ये गणपोषक साथियों की नकल करने वाले अयोग्य शिष्यों को पदोन्नत करते हुए देखे गये हैं। ऐसा न करें तो हाथ से निकलते हुए भी देखे गये है। कुछ के तो बहती गंगा में हाथ धुला दिये जाते हैं और वे धो लिया करते हैं अर्थात् दीक्षाएं हो रही हो और तरबूजे के सामने तरबूजा रंग बदलने के समान वैराग्यमय वातावरण से प्रभावित होकर तैयार हो जाये तो उसे भी दीक्षित कर दिया जाता है। एक समय वह भी था जब नौकरी मना मना कर दी जाती थी, लेकिन अब मना मना कर ली जाती है। दीक्षा लेने-देने के विषय में दोनों बातें हैं। प्रभावक हो तो उसे मना मना कर दी जाती है और प्रभावहीन हो तो उसे मना मना कर लेनी होती है। एक छात्र कह रहा था- क्या करें पढ़-लिखि कर सवर्णों को नौकरी ही नहीं मिलती। हमने कहा- योग्यता प्राप्त कर लो नौकरी देने वाले तुम्हें मनायेंगे। योग्यता हो तो प्रभावक होने की आवश्यकता नहीं है। जैसे योग्यता हो तो घूंस देने की आवश्यकता भी नहीं है। यहाँ भी विचारणीय हो जाता है कि गुरु शिष्य एवं समाज को बेवकूफ बना रहे हैं या शिष्य गुरु एवं समाज को बेवकूफ बना रहे हैं। अयोग्य जबान एवं शिष्य दोनों देश एवं धर्म दोनों को अभिशाप हैं।

IV ट्यूशन लिखित परीक्षा काण्ड

45. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, ट्यूशनों जैसा है साधु को क्षेत्रों का उत्थान।

शिक्षक ने कहा था- नकली लेख पर नम्बर देना और न देना यह तो छोटी-सी बात है। परीक्षा बोर्ड न हो तो छात्रों का पास फैल होना शिक्षकों की अनुकम्पा पर निर्भर है, उनकी योग्यता पर निर्भर कम ही है। साथ ही सरकार के शिक्षा के प्रति निकम्मे पन के कारण ट्यूशनों की दिनों-दिन बढ़ती दशा के कारण अब छात्रों का पास होना ट्यूशन पढ़ने पर निर्भर हो गया है। ठीक इसी प्रकार साधक की रोग एवं राग रोग की परीक्षा किये बिना जिस किसी को योग्य समझकर पिच्छी पकड़ा देना एक छोटी सी बात है। समाज के निकम्मेपन के कारण साधुओं ने क्षेत्रों के उद्धार ने एवं अपने नाम से नये क्षेत्रों के निर्माण ने ट्यूशनों का रूप ले लिया है। शिक्षकों को स्कूल में पढ़ाने से मिलने वाले वेतन से असंतुष्टी की तरह गण पोषकों को मात्र गणपोषक से मिलने वाली वाहवाही से संतुष्टी नहीं है। लगता है - उनकी मान्यता है कि गण पोषण मात्र करने से उनके नाम का अस्तित्व चिरस्थायी नहीं हो सकता जो क्षेत्रों के नये निर्माण से रह सकता है। कुछ ऐसे शिक्षक होते हैं जो ट्यूशन से ही काम चलाते हैं। उसी प्रकार कुछ ऐसे साधु हैं जो मात्र क्षेत्र निर्माण आदि में ही लगे रहते हैं। गणपोषण की योग्यता नहीं होती या गुरु आज्ञा नहीं है वैसा करने की। नाम चिरस्थायी होने में कोई बाधा/अन्तर नहीं है। ट्यूशन पढ़ाने वाले शिक्षकों का स्कूली छात्रो को पढ़ाने के प्रति लापरवाह हो जाने के समान गणपोषकों का शिष्यों के प्रति लापरवाह होने में आश्चर्य ही कहाँ है। क्षेत्रों की खसता हालत या कमजोरियों को देखकर, मट्ठर दिमाकी बालक की शिकायत करके उनकी ट्यूशन लगवाने के लिए पालकों को प्रेरित करने वाले शिक्षकों की तरह क्षेत्र, मंदिर, धर्मशाला के पदाधिकारियों को उकसा देते हैं, तीख पर चढ़ा देते हैं, चढ़ाते रहते हैं कि तुमने अपने कार्यकाल में क्षेत्रादि की कितनी उन्नति की, जो भी की हम उससे संतुष्ट नहीं है।

लड़के को मेरे घर भेज दिया करो फिर फैल होने का सवाल तो उठेगा ही नहीं। रात-दिन को पढ़ाई में एक कर देने वाले भी पीछे रह जायेंगे और तुम्हारा बालक आगे होगा। तुम्हें, हमें एवं बालक को भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता भी नहीं ऐसी सलाह देने वाले शिक्षकों की तरह गणपोषक भी तो कहते हुए सुने गये हैं कि निर्माणाधीन क्षेत्र को अमुक साधु के अधिकार से हटा कर मेरे अधिकार में कर दो। मैं करोड़ों रूपये लगा कर कुछ ही समय में चमन कर दूंगा। प्रगति में सब क्षेत्रों से आगे हो जायेगा। क्षेत्रों की उन्नति

में दिन-रात एक करने वाले भी जिसकी जितनी उन्नति सैकड़ों वर्ष में नहीं कर पाये उतनी एक वर्ष में ना के बराबर प्रयास से करवा दूंगा। ऐसी स्थिति में छात्रों की तरह शिष्यों का पास फैल होना इनकी इच्छा पर निर्भर है उनकी योग्यता अयोग्यता पर ही नहीं।

स्कूल एवं घर पर ट्यूशन पढ़ाने वाले शिक्षकों की तरह उपरोक्त दोनों कार्य करने वाले गणपोषक शिष्यों के साथ पक्षपात न करें ऐसा कैसे हो सकता है। किसी एक को सुचारु रूप से न कर सकने के कारण योग्य को अयोग्य और अयोग्य को योग्य समझ लेते हैं। शिक्षक तो खासकर पैसे के लोभ में छात्रों के साथ पक्षपात करते हुए देखे जाते हैं और गणपोषक झूठी प्रशंसा/वाहवाही पाने के लिए वैसा करते हुए देखे जाते हैं। इनके पक्षपात एवं स्वार्थमय व्यवहार के कारण किसी योग्य शिष्य के द्वारा इनकी किन्चित् अवज्ञा हो जाये या किन्चित् आज्ञा का उल्लंघन हो जाये तो ये अपना अपमान समझ लेते हैं और वह इनके बदले की भावना का शिकार हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अयोग्य पहले उन्नति कर जाता है। उन्हें उस समय निश्चित रूप से पश्चाताप का मुंह देखना होता होगा जब वे योग्य जिन्हें अयोग्य समझ लिया है या वे योग्य जिनसे ये अपमानित हुए हैं, वहीं रहकर या अन्य संघ में जाकर अपने पुरुषार्थ के बल पर अयोग्यों से ही नहीं इन गणपोषकों से भी कई गुनी उन्नति प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं अयोग्य जिन्हें आगे बढ़ा दिया गया है उन्हें भी पश्चाताप होता होगा। और जब ये पदच्युत ही हो जाते हैं, तब गणपोषकों की मानसिकता कैसी होती होगी ? मनमानी करते रहने वाले गुरुओं का शब्दशः अनुकरण करते रहने वालों की दशा रिश्वत् देकर शीघ्र ही प्रमोशन कर लेने वालों जैसी होती है। एक प्रोफेसर कह रहे थे- हमसे जूनियर, जूनियर लोग प्रिंसीपाल बनते जा रहे हैं और मैं यही पड़ा हूँ। हमने कहा- घूंस युग है। साधु भी प्रभावित हैं। तुम कैसे अछूते रह कर उन्नति करोगे ?

46. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, शिष्य समाज को लेकर ही डूबेंगे जजमान।

अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान चुनाव के इस तरीके (वोट) से लोगों का अहित अधिक ही हुआ है। हमारे व्यक्तिगत विचार से छात्रों को ही नहीं शिक्षकों को भी राजनीति के विकल्प से परे रखना चाहिए था या उन्हें रहना चाहिए था, लेकिन इन नेताओं ने शिक्षकों का उपयोग तो किया ही छात्रों को भी लपेट लिया। ठीक इसी प्रकार राजनेताओं की तरह समाजनेताओं ने जैनेतर साधुओं के तरह उन्हें सामाजिक कार्य में उलझा ही रखा है जिन्हें गणपोषण एवं आत्म संस्कार के अतिरिक्त अन्य विकल्पों से परे

रखना चाहिए था या उन्हें स्वयं रहना चाहिए था। साथ ही उपरोक्त समाज नेताओं, एवं गणपोषकों को उन्हें भी उलझा रखा है जिनका शिक्षा एवं दीक्षा का काल चल रहा है। एक ब्रह्मचारी जो अपनी बीती सुना रहे थे- एक आचार्य ने मुझे आदेश दिया कि तुम्हें, निर्माण होने जा रही अमुक संस्था में, सक्रिय रूप से कार्य करना है। मैंने क्षमा मांगते हुए स्पष्ट रूप से मना कर दिया और कहा अब में आत्म कल्याण हेतु शिक्षा काल में आना चाहता हूँ। एक क्षुल्लक जी से कहा- तुम्हें धर्म प्रभावना के लिए अमुक जगह जाना है। इन्होंने भी पढ़ने का समय है ऐसा कहते हुए इंकार कर दिया। दोनों से ही ज्ञात हुआ की आचार्य आज्ञा का उल्लंघन समझ काफी रुष्ट हुए। समाज के नेताओं की भी यही स्थिति होती है जो साधु इनकी इच्छाओं के अनुसार न चलें तो। ये दोनों ही मिलकर शिष्यों का दोहन कर रहे हैं।

आदेश के अनुसार समय पर उपस्थित न होने वाले शिक्षिकों को नौकरी छूट जाने, स्थान बदल जाने या पदोन्नति न होने का भय या पेसी चूक जाने पर सजा हो जाने का भय की तरह, जिनका शिक्षाकाल चल रहा हो ऐसे साधुओं को आज्ञा उल्लंघन के कोप का भय बना रहता है यदि कम से कम समय में भिन्न-भिन्न स्थानों में होने वाले धार्मिक आयोजनों में पहुंचने में आना-कानी की तो। आज के आचार्यों की भिन्न-भिन्न पार्टियों के नेताओं जैसी दशा है। आदेशित शिष्यों की किसी कारण से उस आयोजन में अनुपस्थिति का नाजायज लाभ कोई अन्य आचार्य या किसी अन्य संघ के साधु न उठा लें और न उसका सारा श्रेय लूट लें। कच्ची उम्र में दीक्षाएं देकर संघ बटोरने वाले गणपोषकों के कृत्य से ऐसा लगता है जैसे नेताओं ने अधिक से अधिक वोट बटोरने के लिए इक्कीस वर्ष से कम करके अठारह वर्ष के लोगों को वोट देने का अधिकार दे दिया हो। एक नेता ने मुख्य मंत्री काल में छात्रों को नकल करने की छूट दे दी थी उनसे वोट अपने पक्ष में लेकर पुन: सत्ता में बने रहने के लिए। लेकिन धर्म एवं लोक विरुद्ध चलने वाले को इसके बाद भी सफलता नहीं मिली। ठीक यही स्थिति गणपोषकों की भी हुइ है बाल ब्रह्मचारियों को बेवकूफ बनाने में तो सफल हुए हैं, लेकिन गण पोषण करने में असफल रहे हैं मान अवश्य रहे हैं सफलता।

चुनाव पंचवर्षी हों तो शिक्षकों का छुट्टियों में ही उपयोग किया जाता है, वेतन के अतिरिक्त पैसे देकर, लेकिन चुनाव मध्यवर्ती हों तो समस्या खड़ी हो जाती है। ऐसे चुनाव के चक्कर में एक नेता ने ग्याहरवीं कक्षा तक के विद्यार्थियों को बिना परीक्षा लिये पास करवा दिया था। प्रश्न उठता है कि फैल क्यों नहीं करवाया ? पहली बात तो विरोध होता आन्दोलन के रूप में। दूसरी बात, सत्ता में बने रहने की समस्या खड़ी हो जाती। अगले वर्ष इतना अवश्य किया था कि नाके बराबर छात्रों को छोड़कर सबको फेल करवा दिया कठिन

प्रश्न पत्र निकलवा करके। "चूहे की जान जाये बिल्ली का खिलौना" के अनुसार छात्रों का पास फैल होना उनकी योग्यता अयोग्यता पर नहीं, अपितु इनकी स्वार्थ मय व्यवस्था पर निर्भर है। नेताओं के साथ उनके विद्यार्थी जीवन में ऐसा कभी नहीं हुआ होगा जैसा वे छात्रों के साथ कर रहे हैं। फैल होने पर क्या स्थिति होती है अनुभवी ही जानता है। स्वार्थमय रंग में रंगे गणपोषकों का शिष्य के साथ ऐसा ही व्यवहार हो रहा है।

नेताओं का, उच्च शिक्षा अधिकारियों का प्राचार्यों को आदेश होता है कि परीक्षा फल अच्छे से अच्छा आना चाहिए और दूसरी ओर वोट बटोरने के लिए साम्प्रदायिक दबाव में आकर आये समय व्यक्तिगत जयन्तियों का बहाना लेकर घोषणायें करते चले जाते हैं अतः स्कूलों में पढ़ाई नाम मात्र होती है। अब नकल ही एक मात्र सहारा है। कौन गुरु नहीं चाहते कि हमारे शिष्यों से धर्म की अच्छी प्रभावना हो, लेकिन अधिकांश गृहस्थों के कर्तव्य विमुख होने एवं साधु के शक्तिहीन होने के कारण जब निर्दोष रूप से आचरण नहीं कर पा रहे हैं तब धर्म प्रभावना के लिए उन्हीं साधुओं की नकल का सहारा लेना होगा जो पद विरुद्ध चलते हुए अप्रभावना करने को ही प्रभावना समझ रहे हैं।

47. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं सरसरी निगाह से हैरान बुद्धू बुद्धिमान।

शिक्षक कहने लगे- महाराज श्री ! शिक्षा को ही नहीं, कॉपी जांचने को भी शिक्षकों ने व्यवसाय बना लिया है, शासकों की थोथी उदारता के कारण। सरकार वेतन के अतिरिक्त कॉपी जॉचने का अलग पैसा देती है, प्रति कॉपी के हिसाब से। यहाँ भी शिक्षक जांचने की औपचारिकता पूरी कर लेते हैं अर्थात् ऊपर की दो चार लाइन पढ़ीं, नीचे की भी उतनी लाइन पढ़ीं, बीच में एक नजर डाली नम्बर दे दिये, क्योंकि इस तरह जांचने की अपेक्षा अक्षरशः जांचने में घाटा ही है। ऐसी स्थिति में छात्र पढ़ने में अनुत्साहित हो जाते हैं, जिन्होंने प्रश्न का सही एवं पर्याप्त उत्तर लिखा है, लेकिन नम्बर पास होने लायक मिलते हैं या उतने भी नहीं मिलते। संदेह में भी पड़ जाते हैं कि हमने उत्तर पर्याप्त या सही नहीं लिखा। और जो ऊटपटांग कुछ भी लिख आया है वह अपनी पीठ ठोक लिया करता है कि मैंने अच्छा बेवकूफ बनाया जांचने वाले को।

सरकार की तरह जैन समाज में थोथी उदारता की अभिव्यक्ति उस समय हो ही जाती है कि साधु जैसा भी हो समाज उसे निराहार नहीं रहने देती। जैसे कैसे हो आहार की व्यवस्था जुटा ही देती है। धन के लोलुपी सरसरी निगाह से कॉपी जांचने वाले शिक्षकों की

तरह सरसरी निगाह से ही दीक्षार्थियों की परीक्षा कर लेने वाले प्रतिष्ठा लोलुपी आचार्य (गणपोषक) सच्चे-झूठे साधकों में भ्रम की स्थिति पैदा कर देते हैं। सभी साधकों की शारीरिक क्षमता एवं मानसिकता एक जैसी होती हो सो भी बात नहीं। हर एक को "एक ही डण्डे से हाँक कर" उचित मार्ग दर्शन एवं प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। कम से कम समय में अधिक से अधिक कॉपी जांचने वाले शिक्षकों के समान कम समय में अधिक से अधिक शिष्य बना लेने वाले एक डण्डे से हाँककर ही गणपोषण कर सकेंगे। गांव भर के मवेशी चराने वाले ग्वाले जैसी दशा होती है शिक्षकों की तरह गणपोषकों की और मवेशियों जैसी दशा होती है छात्रों की तरह शिष्यों की। सामूहिक रूप से चरने वाले मवेशी को कितना चरने मिलता है यह मवेशी जानता है या मालिक। ग्वाले को वेतन से मतलब है मवेशी के खाने-पीने, जीने-मरने से नहीं। मवेशी की मालिक एवं छात्र की माता-पिता चिन्ता कर लेते हैं। शिष्य का कौन है गुरु के अतिरिक्त। वह भी लापरवाही बरतें तो शिष्य मवेशी से भी गया बीता है।

48. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, अनैतिकताओं का कारण लिखित इम्तहान (परीक्षा)।

मेरे व्यक्तिगत विचार से कॉपी जांचने में स्थानी शिक्षकों के द्वारा अनैतिकता बरतने के कारण ही शासकों/शिक्षा अधिकारियों ने बोर्ड परीक्षा एवं छात्रों के नाम के स्थान पर रोल नम्बर रखने की योजना बनाई होगी, लेकिन शिक्षा को दो नम्बर का व्यवसाय बना लेने वालों ने उस पर भी पानी फेर दिया। अधिकारियों ने शिक्षकों एवं छात्रों की आंख बचाकर ऐसी जगह कापी भेजने की योजना बनाई जहाँ जांचने वालों को भी मालूम न पड़े कि कहाँ से आई, लेकिन इस कृत्य में भी वे असफल रहे। जांच करने वाले पता लगाकर छात्रों को सूचित कर देते हैं कि आपकी कापियाँ यहाँ आई हैं पास या डिवीजन लायक नम्बर नहीं है। दोनों काम हो सकते हैं। पास होने लायक नम्बर की इतनी कीमत/फीस है और डिवीजन लायक नम्बरों की इतनी। रोल नम्बर भी बदले जा सकते हैं अर्थात् डिवीजन लायक नम्बर वाले छात्रों की कापी पर आपका रोल नम्बर फिट किया जा सकता है और आपका उसकी कापी पर। जिसके साथ ऐसा छल किया जा रहा है/किया जाता है उसके ऊपर क्या बीतेगी क्या बीतती होगी स्वार्थांध नहीं समझ सकते। ऐसे छात्र आत्मघात करते सुने एवं देखे भी गये हैं। एक वृद्ध महोदय से पूछा- परीक्षा देते समय नकल करते थे ? कहने लगे- आप नकल की कह रहे। हमारे समय में परीक्षा ही नहीं होती थी। एक किताब पूरी होने पर दूसरी पढ़ने लगते थे। होती भी थी तो मौखिक और वह भी पढ़ाते समय ही ले

ली जाती थी। वस्तुत: लिखित परीक्षा अंग्रेजों की देन है, भारतीय संस्कृति नहीं है। पास होने के लिए एवं पास करने के लिए जितने छल-छंद अपनाये/किये जा रहे हैं वे लिखित परीक्षा लेने देने के ही परिणाम हैं। श्रमण संस्कृति में एक समय वह भी था जब पढ़ाई मौखाग्र ही होती थी, तब परीक्षा लिखित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हजारों वर्ष पूर्व से ग्रंथ के आधार से अध्ययन-अध्यापन होने लगा है/हो रहा है। लिखित परीक्षायें भी होती हैं, लेकिन हमे हमारे गुरुजी ने जितना जो कुछ भी पढ़ाया है किन्तु लिखित परीक्षा कभी नहीं ली। मैं भी पढ़ाता हूँ वैसी परीक्षा नहीं लेता, क्योंकि मोक्ष मार्ग, ज्ञान तक ही सीमित नहीं है लौकिक ज्ञान की तरह। यहाँ तो श्रद्धा एवं आचरण को उतनी ही प्रमुखता दी जाती है जितनी ज्ञान को। किसमें कितना श्रद्धान एवं चरित्र है इसकी परीक्षा लिखित नहीं ली जा सकती है। किसी शिष्य में ज्ञान का अतिरेक हैं श्रद्धान, चारित्र का नहीं, किसी में श्रद्धा का अतिरेक है ज्ञान, चारित्र का नहीं, किसी में चारित्र का अतिरेक है ज्ञान, श्रद्धान का नहीं। किसी भी तरह से परीक्षा लेने वाला किसी में किसी के अतिरेक को कम करके, निकाल करके किसी अन्य में मिला तो नहीं सकता। किसी आज्ञाकारी मनोज्ञ शिष्य में किसी अवज्ञ कुरूप शिष्य के ज्ञान के अतिरेक को उसमें से कम करके उसमें मिला कर पूर्ण रूप से प्रभावक बनाकर स्वयं वाहवाही ही लूटता रहे। ऐसा होना किसी काल में सम्भव नहीं है, लेकिन हमेशा झूठी प्रशंसा पाने की फिराक में रहने वाले ऐसा सोचते हों इसमें आश्चर्य नहीं है। उन गणपोषक के बारे में आश्चर्य ही नहीं निश्चय ही मानकर चलना चाहिए जिनमें शिष्यों के प्रति आत्मीय-अनात्मीय का पक्ष घर किये हुए है। लिखित परीक्षा होती या होने लगे शिष्यों के ज्ञान दर्शन चारित्र की तो आत्मीय शिष्य एवं अनात्मीय शिष्यों के आपस में रोल नम्बर बदलते हुए नहीं चूक सकते थे, लेकिन करें क्या लाचार हैं। इस प्रकरण के अन्त में लिखित परीक्षा एवं पास होने के लक्ष्य के दुष्परिणाम पर थोड़ा-सा और विचार करें।

49. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, वहाँ छुरे से धमकी यहाँ कपड़ा कृपाण।

विद्यार्थी अवस्था में एक ऐसे प्रोफेसर साहब के विषय में सुना था कि उन्होंने अपने ही लड़के की नकल पकड़कर शासकीय नियम के अनुसार तीन वर्ष के लिय महाविद्यालय से निष्कासित कर दिया, इसलिए उन्हें 'डाक्टर' की उपाधि से विभूषित किया था। ऐसे लोगों की संख्या न के बराबर है। इससे ठीक विपरीत तो हर जगह मिल जायेंगे नकल कराते एवं करने के लिए प्रेरित करते हुए। नकल करना अपराध है, अत: नकल करने,

कराने वालों पर शक्ति बरतने की औपचारिकता पूरी अवश्य कर ली जाती है। ऐसी स्थिति में शिक्षकों को "यहाँ कुआं यहाँ खाई" के अनुसार भय बना रहता है, क्योंकि नकल न करने देने वाले शिक्षकों को नकल करने वाले छात्र छुरा मारने की धमकी देते हैं। ज्यादाती की तो मारते हुए भी सुने गये हैं, अत: शिक्षकों को अधिकारियों की अपेक्षा छात्रों का भय विशेष रूप से रहता है।

जैन समाज में थोड़े से लोगों का एक ऐसा भी वर्ग है जो साधुओं की आलोचना के रूप में काफी बदनाम हैं। बेअक्ल मे नकल करने वाले साधुओं एवं गृहस्थों को शास्त्र विरुद्ध चलते हुए शास्त्र विरुद्धता का इतना भय नहीं है जितना उपरोक्त आलोचकों का। मैं यह बात बड़ी निर्भयता से कह सकता हूँ कि मुनि एवं श्रावक धर्म को खतरा आलोचकों से नहीं अंध भक्तों से है। इनके बीच रहते हुए साधुओं को शिथलाचारी बरतने में बिल्कुल भय नहीं रहता। अंध भक्तों का इस समय बोलबाला है। उपरोक्त आलोचकों की बोलती तो बद या कम की ही है, उन साधु, श्रावक, पण्डितों पर भी प्रतिबंध लगाने की पूरी-पूरी कोशिश करते हैं जो शिथलाचारी साधुओं, श्रावकों के हित में उनकी समालोचना करते हैं। कहते हैं- आप भी मुनि भक्त होकर उनकी आलोचना करेंगे तो अभक्तों को किस मुंह से रोकेंगे। उन्हें और बल मिलेगा। उनसे पूछा जाये कि अंकुश न लगाये जाने पर शिथलाचार को बल नहीं मिल रहा है क्या? तो उनके पास और क्या का जवाब होगा सिवाय सीनाजोरी दिखाने के।

गजरथ जैसे धर्म विरुद्ध कार्यो की जगह-जगह नकल करते गृहस्थों एवं इनका समर्थन/मार्गदर्शन करने वाले साधुओं का बहिष्कार करने वाले साधु एवं गृहस्थ कितने हैं। और अपने नाम से तीर्थों का निर्माण करने में लगे साधुओं एवं उनके समर्थन करने में लगे अंधभक्तों की नकल करने में लगे साधु एवं गृहस्थों का बहिष्कार करने वाले साधु एवं गृहस्थ कितने हैं? इन्हें 'डाक्टर' की नहीं 'विद्रोही' उपाधि दी जाती है। ऐसे साधुओं को कपड़े पहना देने की जिस समय धमकी मिलती हुई सुनने में आती है, तब लगता है नकल पर प्रतिबंध लगाने वालों को छुरा मारने की धमकी मिली हो।

जब नकल पर प्रतिबंध लगाना कठिन हो गया, तब प्रश्न पत्र बनाने वालों ने बनाने का ढंग बदल दिया जिससे विद्यार्थियों को नकल के माध्यम से भी उत्तर देना/लिखना कठिन हो गया, क्योंकि परीक्षा का समय निश्चित रहता है। ऐसी स्थिति में शिक्षकों को स्वयं बताना आवश्यक हो गया। जब एक जैसे उत्तर सभी छात्र लिखेंगे तो कोई भी परीक्षक समझ लेगा कि यह शिक्षकों की कारिशतानी है।

पाठ्यक्रम अगले वर्ष भी वही हो तो प्रश्नों की पुनरावृत्ति हो जाना सम्भव है। हो भी

जाती है। महत्वपूर्ण विषय से संबंधित प्रश्नों की पुनरावृत्ति तो प्राय: होती ही है। जिन छात्रों का लक्ष्य मात्र पास होने का होता है वे उन्हीं को आधार बना लेते हैं। अनेक वर्षों से वही पाठ्यक्रम चल रहा हो तो उपरोक्त छात्रों को काफी सुविधा हो जाती है परीक्षा में आने वाले प्रश्नों का अनुमान लगा कर नकल तैयार करने में। ऐसे ही छात्रों को दृष्टि में रखकर शिक्षा अधिकारियों ने पाठ्यक्रम बदल दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पुराने पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाने वालों को, पढ़ाने वाले अभ्यासियों को पढ़ाने में कठिनाई होने लगी, तब नकल कराने में कठिनाई तो आयेगी ही।

भारतीय संस्कृति में अध्ययन का लक्ष्य पास होना नहीं योग्यता प्राप्त करना है। प्रचलित शिक्षा पद्धति के पढ़ाई का लक्ष्य मुख्य रूप से पास होना है योग्य होना गौण है। हमारे व्यक्तिगत विचार से विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ होते ही प्रत्येक छात्र का लक्ष्य योग्य बनने का बनाया जाये या योग्य बनने के ही संस्कार डाले जायें तो पाठ्यक्रम एवं प्रश्न बनाने के ढंग को बदलने जैसी कोई समस्या नहीं आ सकती।

अधिकांश साधु एवं भक्तों के क्रिया कलापों से लगता है कि भारतीय संस्कृति के अनुसार पढ़कर योग्यता प्राप्त करने की तरह श्रमण संस्कृति में दीक्षा लेकर आत्म कल्याण (सिद्धि) करने की जगह अंग्रेजों की नीति के अनुसार पढ़ाई कर या नकल कर पास होने के समान दीक्षित होकर प्रसिद्धि पाने का रह गया है। नकल न हो इसलिये सत्ता के बल पर आये दिन सरकार के द्वारा शक्ति भी बरती जाती है, लेकिन जैन समाज एवं साधुओं में ऐसी कोई सत्ता नहीं रह गई है जो दिनोंदिन परस्पर में बढ़ती हुई नकल पर प्रतिबंध लगाने में शक्ति बरत सके। लक्ष्य को बदले बिना शक्ति बरती भी तो नहीं जा सकती है। बरतना भी उंचित नहीं है। शाकाहार, मांसाहार का भेद मिटाये बिना छुआछूत मिटाने पर शक्ति बरतना सर्वथा अनुचित है।

50. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, साधु पाते ख्याति, रोटी बेरोजगार धनवान।

हमारी समझ से शिक्षा का/शिक्षित होने का सभी को अधिकार है समान रूप से। इस दृष्टि से शिक्षा का राष्ट्रीयकरण किया गया है, लेकिन यह प्रयास असफल रहा, अन्यथा शिक्षा कर्म व्यवसाय नहीं बन सकता था। शासकीय स्तर पर न चला सकने के कारण निजी शैक्षणिक संस्थाओं को प्रोत्साहन मिल रहा है, उन्हें खोलने की अनुमति देकर। इनमें आपस में पढ़ने-पढ़ाने में होने वाले परिश्रम में तो स्पर्धा कम ही होती है, अपितु परीक्षा फल में

स्पर्धा अधिक ही होती है। इसकी सफलता के लिए सहारा लिया जाता है नकल करने, कराने का। ये संस्थायें बेरोजगार शिक्षित वर्ग के लोगों के साथ नाजायज फायदा उठाती हैं। न के बराबर योग्यता वाला शासकीय शिक्षक जहाँ न के बराबर परिश्रम करने पर तीन-चार हजार रुपये पा जाता है वहीं निजी संस्था वाले बेरोजगार वालों को तीन चार सौ रूपये देकर कश कर काम लेते हैं। सम्भव हुआ तो वर्ष भर में बदल भी देते हैं ताकि अगले वर्ष वर्ष वेतन बढ़ाना न पड़े। ऐसी संस्था से जुड़े एक शिक्षक से पूछा- सपरिवार जीवन निर्वाह हो जाता है इतने वेतन से। कहने लगे- बड़ा उपकार है इस संस्था का। कैसे ? बेरोजगार शिक्षक किसी शैक्षणिक संस्था से न जुड़े तो ट्यूशन भी नहीं मिलती। जुड़ने पर मैं स्वयं लखपति हो गया हूँ। स्वतंत्र शिक्षक छात्र को योग्य तो बना सकता है, लेकिन पास कराने की जिम्मेदारी नहीं ले सकता। भले ही परीक्षायें बोर्ड न हों। यही कारण है योग्य-बेरोजगार शिक्षक दोनों ओर से उपेक्षित हो जाते हैं। शिक्षा का माध्यम निजी संस्थाओं का होना गलत नहीं है यदि उनका उद्देश्य व्यवसाय बनाने का न हो तो। लेकिन अधिकांश संस्थाओं का उद्देश्य व्यवसाय ही है।

देश में अधिकांश शिक्षित बेरोजगार हैं, कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें पर्याप्त वेतन मिलने पर भी संतोष नहीं है। यही कारण है कि लोग शासकीय शिक्षक होकर भी निजी शिक्षा संस्थायें चला रहे हैं। निजी संस्थाओं के दिनोंदिन बढ़ने का कारण 'आरक्षण' भी है। एक ओर शासक साक्षरता अभियान लागू करके व्यक्ति मात्र को शिक्षित होने के लिए जबर्दस्त जोर दे रहे हैं और दूसरी ओर आरक्षण जैसी नीतियों के कारण लोगों में शिक्षा के प्रति अनुत्साह का माहौल पैदा कर रहे हैं। पतितों के उत्थान का उपरोक्त तरीका हास्याप्रद तो है ही देश के पतन एवं आपसी संघर्ष का कारण भी है।

नौकरी देने के विषय में सरकार का सोचना है- सौ (100) में अस्सी-नब्बे प्रतिशत नम्बर पाने वाले छात्र स्वयं कमा खा सकते हैं, अत: इन्हें नौकरी देने की आवश्यकता नहीं है जितनी सत्रह नम्बर से पास होने वालों को देने की है। लोगों की यह सोच कहाँ तक उचित है ? विचारणीय है- योग्य व्यक्तियों का स्वयं कर खाने की सोच तो फिर भी ठीक है लेकिन अयोग्य व्यक्तियों को महत्वपूर्ण जिम्मेदारियां सोंपना कहाँ तक उचित है ? इसके दुष्परिणाम देखे ही जा रहे हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि साधुओं का रोजगार है निराकुल स्थान में रहते हुए ज्ञान, ध्यान, तप में लगे रहना; लेकिन संहनन एवं निराकुल स्थान के अभाव में हमेशा उसमें लगे रहना कठिन है। इससे कोई विवेकी अनजान नहीं है कि साधुओं की बेरोजगारी का अंध भक्त नाजायज लाभ उठा रहे हैं। धर्म के नाम पर

आरम्भ-सारम्भ के कार्यों में साधुओं की व्यस्तता को देखते हुए लगता है कि ये अंध भक्त न के बराबर सेवा देते हुए कस कर काम ले रहे हों। कम से कम वेतन देने वाले व्यक्ति किसी शिक्षक से यह नहीं पूछते कि कैसे जीवन निर्वाह होता होगा। उसी प्रकार अंध भक्तों को भी पूछने की आवश्यकता नहीं है कि आपका अधिकांश समय जन सम्पर्क करते हुए निकल जाता है, तब सामायिक में मन एकाग्र कैसे होता होगा। कोई पूछे भी तब क्या साधु उपरोक्त शिक्षक की तरह यह जबाव देगा कि भक्तों का बड़ा उपकार है इनके माध्यम से हम किसी आयोजन या किसी संस्था से नहीं जुड़ते तो इतनी ख्याति/प्रसिद्धि हमें आज मिली है एवं 'तीर्थ उद्धारक' 'संस्कृति संरक्षक' जैसी उपाधि मिली हैं वे कैसे मिलती ? शिष्य/साधु ऐसा कहें भले ही न क्रिया कलाप स्वयं बता रहे हैं। हमारे एक शिष्य जो इस समय हमारे बीच नहीं हैं, उनसे हम व्यंग्य करते रहते थे- महाराज ! जुड़ जाओ किसी संस्था से अन्यथा आने वाले समय में ख्याति तो दूर रोटी भी नहीं मिलेगी।

कुछ साधु के कृत्य से ऐसा प्रतीत होता है पुराने तीर्थों का जीर्णउद्धार करवाने से मिली ख्याति, उपाधियों से उन्हें संतोष नहीं है अत: उनसे जुड़े रहकर अपने नाम से निजी क्षेत्रों का निर्माण करा रहे हैं। सरकारी या अन्य निजी शैक्षणिक संस्थाओं के द्वारा बालकों के ऊपर डाले जा रहे श्रद्धाहीन एवं चरित्रहीनता के संस्कारों से उन्हें बचाने के लिए एवं धार्मिक संस्कारों से संस्कारित करने के लिए निजी संस्था खोल लिया करते हैं। ऐसा करना तो उचित ही है, लेकिन इन्हें उतनी सफलता नहीं मिलती जितनी मिलनी चाहिए लेकिन यहाँ उचित नहीं कहा जा सकता है कि किसी साधु का निर्पेक्ष भाव से किसी संस्था से जुड़ना/उद्धार कराना सही है। पहले ही कहा जा चुका है कि आरक्षण से छात्रों की शिक्षा के प्रति रुचि घट रही है। उसी प्रकार साधुओं में तीर्थ सुरक्षा से रुचि घटी है अध्ययन से। छात्र चाहे उच्च वर्ग का हो या निम्न वर्ग का जब पढ़ाई का उद्देश्य नौकरी करना ही बना दिया गया हो फिर उच्च एवं निम्न को लेकर पक्षपात कैसा। हमारे व्यक्तिगत विचार से नौकरी के विषय में योग्यता को ही महत्व देकर अयोग्यों को बैठे-बैठे ही खिलाया जाये तो किसी को आपत्ति नहीं होगी। सरकार यदि ऐसा नहीं करती तो उच्च वर्ग के लोगों को अपने एवं अपने वर्ग के लोगों के स्वाभिमान का ध्यान रखते हुए नौकरी ही न करें, जो कर रहे हैं उन्हें छोड़ देना चाहिए। सरकार के कुछ ही दिन में घुटने टिक जायेंगे जब व्यवस्था डगमगा जायेगी, लेकिन उच्च वर्ग में आपस में संगठन एवं स्नेह होता है तो आरक्षण को बढ़ावा मिलता या क्यों मिलेगा।

51. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, सरकार समाज की मूर्खता पर सर्वण साधु हैरान।

हम समझते हैं उच्च वर्ग की अपेक्षा साधुओं में आपस में कटुता, वैमनस्यता, स्वार्थ, मतभेद अधिक ही हैं अन्यथा समाज उनके साथ उच्च वर्ग एवं निम्नवर्ग के लोगों के समान पक्षपातमय व्यवहार क्यों करती। समाज का स्वार्थी वर्ग प्रत्येक साधु से उनके पद के अनुकूल या प्रतिकूल जो भी अपेक्षाएं रखते हैं उनकी पूर्ति की योग्यता कोई साधु न रखता हो या योग्य होते हुए स्व व परहित में बाधक समझ उनकी पूर्ति में सहयोगी न बने तो निश्चित रूप से स्वार्थियों द्वारा उपेक्षा हो रही है, इस की चिन्ता उन साधुओं को नहीं जो स्वार्थियों की अपेक्षाओं की गुलामी में जकड़े हैं। अपितु गौरवान्वित होते हैं, उन्हें उपेक्षित देखकर, सुनकर।

सरकार ने निम्नवर्ग के लोगों को उनके उद्धार के नाम पर उन्हें सिर पर चढ़ा रखा है कि वे जैसे हैं, उन्हें कोई वैसा कह दे उनकी उद्दण्ड प्रवृति के कारण तो बहुत बड़ा अपराध है। हमारे ही एक शिष्य का कहना हैं- किसी से पूछा जाये- तुम जैन हो अर्थात् होटल का, रात्रि भोजन आदि का त्याग है तो वह कहता है- तुम गुरु नहीं हो, क्योंकि अधिकांश साधुओं ने उन्हें इस कदर सिर पर चढ़ा लिया है वह उपरोक्त साधुओं के कुछ भी पूछने पर कुछ भी कह सकता है। सरकार पता नहीं किस कारण से यह नहीं कह पा रही है कि सवर्णो को नौकरी नहीं दी जायेगी, अत: बहाना करती रहती है कि अस्सी-नब्बे प्रतिशत से कम नम्बर वालों को नौकरी नहीं मिलेगी। जैसे की जैन समाज नहीं कह पा रही है उन साधुओं से जो पूछते हैं कि तुम जैन हो या नहीं कि अब तुम्हें जैन समाज में जगह नहीं है। निम्न जाति के लोगों का सरकार हित चाहती है सो भी बात नहीं, अपितु हित के नाम पर वोट चाहती है सत्ता में बने रहने के लिए। उसी प्रकार जैन समाज उन साधुओं का हित चाहती है जिन्हें स्वयं अपने हित की चिंता नहीं है ? नहीं।

एक व्यक्ति साहूकार के पास प्राप्त वेतन लेकर पहुंचा। सामने रखते हुए कहने लगा- भईया ! जितने आपको लेना है, वे लेकर बाकी हमें दे दो। साहूकार ने पूछा- क्यों रे! कितना वेतन मिलता है ? कहने लगा- इतने इतने के इतने और इतने इतने के इतने। अर्थात् अठारह सौ रूपये पाने वाला उतने गिन नहीं सकता था वह जिम्मेदारी का कितना निर्वाह करता होगा। साहूकार दोनों भाई सरकार एवं नौकर की मूर्खता पर काफी देर तक हंसते रहे। समाज का प्रबुद्ध वर्ग उन साधुओं की मूर्खता पर हंस रहा है जो बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियां लेकर भी ग्रहीत मूल गुणों के पालन में लापरवाह तो हैं ही साथ ही व्रतों का उनके अतिचारों सहित ज्ञान नहीं है।

परीक्षायें दो प्रकार की होती हैं। एक तो वह कि जितना गलती होता है उतने ही नम्बर कटते हैं। दूसरी वह जिसमें किसी प्रश्न के न बनने पर छोड़ देने से उतने ही नम्बर कटते हैं जितने इस प्रश्न पर रखे गये हैं, लेकिन उस प्रश्न का गलत उत्तर लिख गया तो उस प्रश्न संबंधी नम्बर तो कटेंगे ही सही उत्तर में से भी काटे जायेंगे। पहली कक्षा से पांचवीं तक बिना परीक्षा दिये पास कर दिये जाने वाले विद्यार्थी आगे जाकर उपरोक्त तरीके से ली जाने वाली परीक्षा से पास होने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे? वैसे तो सरकार का नौकरी न देने के लिए यह भी एक बहाना है। समाज एवं साधु स्वयं जिस तरह से समाधि की भूमिका में लापरवाही बरत रहे हैं उससे लगता नहीं है कि वे निर्दोष समाधि की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि निर्दोष समाधि में उपरोक्त परीक्षा से भी बढ़ कर परीक्षायें होती हैं।

52. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, प्रोत्साहन, उपहास में हैं निंद्य स्वार्थ प्रधान।

अभी तक की लिखित समीक्षाओं को पढ़कर, आधुनिक शिक्षा से प्रभावित एवं शिक्षित लोग अनुमान लगाते हैं कि लेखक काफी पढ़ा लिखा होना चाहिए, जब वास्तविकता ज्ञात होती है तो आश्चर्य करते हैं कि इतनी कम शिक्षा के बावजूद भी इतना अच्छा लिख कैसे लेते हैं। कहना चाहिए कि इनके विचार से लगता है कि व्यक्ति का योग्य होना लौकिक शिक्षा पर निर्भर है। इतना ही नहीं इसी शिक्षा को योग्यता का माध्यम बना कर शिष्यों के साथ होने वाला गुरुओं का पक्षपात मय व्यवहार भी चिन्तनीय है। संस्कृत व्याकरण को ही लें तो स्कूलों में ही दी जाने वाली व्याकरण की शिक्षा रेडीमेड वस्त्रों के समान होती है अर्थात् वस्त्र कैसे बना जानकारी की आवश्यकता नहीं है। सीधा खरीद लो कि तरह शब्द, पद आदि कैसे बने इसमें उलझने की आवश्यकता नहीं सीधा रट/कंठस्थ कर लो। यही कारण है कि हमें स्वयं एम.ए. पास करके आये हुए लोगों को उस विषय को पढ़ाने की आवश्यकता पड़ी जिसे माध्यमिक शालाओं में पढ़ाया जाता है संस्कृत में एम.ए. आदि करने वालों की योग्यता को देखकर बुर्जुग लोग उनका उपहास किया करते हैं। एक व्यक्ति ने अपना परिचय दिया कि मैंने संस्कृत में पी.एच.डी की है। उससे कहा - 'कर्म' (कर्मन्) शब्द के षट्कारक बनाइये ? कहने लगे- कर्मः, कर्मौ, कर्माः। पूछने वाले ने कहा- तुमने तो कर्म को ही पीट दिया पी.एच डी. करके। 'कर्मन्' शब्द नपुंसक लिंग है अतः कर्म, कर्मणी, कर्माणि बनेगा। इस तरीके से पी.एच.डी कर लेने वालों का उपहास करने वाले गणपोषक भी उपरोक्त तरीके की लौकिक शिक्षा के लिए साधकों को प्रोत्साहित करते हैं कि अभी तुम दीक्षा मत लो अपितु एम.ए., बी.ए., एम.काम, बी.काम,

एम.एस.सी, आदि कर लो। एक ओर तो उपहास और दूसरी ओर प्रोत्साहन यह निजी स्वार्थ के बिना हो नहीं सकता। किसी को दीक्षा देने की उतावली में लौकिक शिक्षा का उपहास किया जाता है और सम्हाल न सकने की स्थिति में प्रोत्साहित किया जाता है। ''जो व्यवहार कुशल सो परमार्थ कुशल'' इस युक्ति के आधार पर अनुमान अवश्य लगा लिया जाता है कि जब इसने लौकिक शिक्षा में इतनी योग्यता प्राप्त की है तब तो यह मोक्ष मार्ग में जल्दी ही योग्यता प्राप्त कर लेगा इन्दूभूति गौतम के समान। यह आवश्यश्क नहीं है कि मोक्ष मार्ग में आने वाले या आने के इच्छुक सभी ऐसे ही होते हैं। अधिकांश तो नकल करके पास होने वाले या अक्ल से सत्रह नम्बर की योग्यता वाले ही होते हैं तब इनमें उपरोक्त युक्ति कैसे लागू होगी। उन्हें हीन भावना से देखा जाता है या वे स्वयं अपने आप को हीन भावना से देखते हैं जो कोरी बड़ी-बड़ी डिग्री लेकर नहीं आया है। स्वाभाविक है जब लौकिक शिक्षा के माध्यम से आये दिन चर्चा का विषय बना रहता है तब अनपढ़ की उपेक्षा हो जाना स्वाभाविक है। अत: गणपोषकों से यही आशा की जाती है कि नकल के इस युग में लौकिक शिक्षा के आधार पर मोक्ष मार्ग में योग्यता, अयोग्यता का निर्णय न करें ताकि शिष्यों में अभिमान एवं हीन भावना जाग्रत न हो।

लौकिक शिक्षा से शिक्षित व्यक्ति के विरक्त होने पर लगन के अनुसार शीघ्र ही धर्म की शिक्षा को प्राप्त करने में लग जाना स्वाभाविक, लेकिन वह उतनी ही लगन से उस ज्ञान का श्रद्धा एवं आचरण में उपयोग करने लगेगा यह कोई जरुरी नहीं है। हो सकता है व्यसनी रहा हो अत: ज्ञान को आचरण में उतारने में समय लगे। बहुत कम विद्यार्थी होंगे जो छुट्टी होने पर छुट्टी की सूचना मिलने पर खुशी न मनाते हो। छुट्टी होने पर लगता है- काराग्रह से छुटकारा मिल गया हो। अधिकांश बच्चे तो स्कूल रोते जाते हैं और हंसते हुए लौटते हैं। निश्चित रूप से रहने वाली रविवार की छुट्टी की प्रतीक्षा तो सोमवार से ही प्रारम्भ हो जाती है। साधु के षट् आवश्यकों खासकर सामायिक में अनभ्यासियों (शिक्षितवर्ग) की ठीक यही स्थिति होती है। सामायिक से छूटने की प्रतीक्षा बैठते समय से ही प्रारम्भ हो जाती है।

V मनोरंजन काण्ड

53. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, हाँ, बाधक अभिशाप साधक वरदान।

अध्ययन के साथ-साथ शारीरिक श्रम एवं मनोरंजन की भी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार शुद्ध भूख में भोजन के साथ रसों एवं चटनी, पापड़ आदि चीजों की

आवश्यकता नहीं होती। जब जिसे होती है वह भूख की कमी को सूचित करती है। उसी प्रकार मनोरंजन.अध्ययन में रुचि की कमी को सूचित करता है। मनोरंजन अध्ययन में आई अरुचि को अवश्य दूर करता है, अत: वरदान है यदि समय समय पर एवं सीमित समय के लिये किया जाये तो। लेकिन उपरोक्त दोनों स्थितियों का उल्लंघन हुआ तो निश्चित रूप से अरुचि की वृद्धि में कारण होता है अत: अभिशाप है। मनोरंजन उस समय जरुरी है जिस समय अध्ययन में अरुचि होने लगे न कि वर्ष में एक निश्चित समय तक के लिए। जैसा कि इस समय होता है। पहले जितना समय मनोरंजन के लिए दिया जाता था उतना इस समय अध्ययन के लिए दिया जाता है और जितना समय अध्ययन के लिए दिया जाता था अब मनोरंजन के लिए दिया जाता है और इसका मुख्य कारण है टी.वी.। और यह तन,मन,धन तीनों की क्षति का कारण है। मनोरंजन के लिए किया जाने वाला आवश्यकता से अधिक और अधिक समय तक किया जाने वाला परिश्रम अध्ययन में अरुचि का कारण तो है ही, विषयानुराग एवं द्वेष को बढ़ाने वाला मनोरंजन अध्ययन में रुचि को समाप्त ही कर देने वाला है।

ऐसा खेल छात्रों के विषय कोर्ष से बाहर है जिसने प्रतियोगिता का रूप ले लिया हो। छात्रों को ऐसे खेलों के प्रति उत्साह बढ़ाने के लिए इनाम का प्रलोभन दिया जाता है जिसमें लक्ष्य ही बदल जाये। मनोरंजन के रूप में जिसका कुछ समय के लिए सहारा लिया जाता था वह विश्व स्तर पर प्रतियोगिता के रूप में बदल गया। अपने अपने देश की प्रतिष्ठा के रूप में देखा जाने लगा। खिलाड़ियों के हारने पर राष्ट्र ध्वज झुका दिया जाता है। जैसे कि कोई बड़ा नेता मर गया हो या युद्ध में हार गये हों। जीतने पर मिठाईयां बटती हैं। इन खेलों की दशा खाली तांस खेलते-खेलते जुएं खेलने जैसी हो चुकी है। यही कारण है कि इन खेलों के आधार पर जीत हार का अनुमान लगा कर लोग लाखों का व्यापार कर लेते हैं। कुछ दिन पहले सुना था- खेल में अपने देश के हार जाने पर एक लड़के ने एक गोली टी.वी.पर और एक स्वयं को मार ली थी। ऐसा देश भक्ति से प्रेरित होकर नहीं अपितु अपनी सारी सम्पत्ति दाव पर लगा दी थी देश के जीत के पक्ष में। वस्तुत: देखा जाये तो खेलने वाले तो समय बर्बाद करते ही हैं देखने वाले विद्यार्थी अपना लक्ष्य ही नहीं खान-पान भी भूल जाते हैं/गौण कर देते हैं। अत: देश की उन्नति में बाधक समझने वाले विकसित देश इन मनोरंजनों में विशेष रुचि नहीं लेते। इसे समय बर्बाद करना कहते हैं। ये नकल करने में भी कारण हैं, क्योंकि विद्यार्थी पढ़ेगा ही नहीं और पास होना चाहेगा तब नकल का सहारा लेगा ही। शिक्षक भी तो अछूते नहीं है व्यर्थ में समय की बर्बादी रूप इन मनोरंजनों से। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों पर प्रतिबंध लगाने का सवाल ही नहीं उठता।

शुभ उपयोग साधुओं के लिए एक मनोरंजन है। यह तो साधुओं की कमजोरी है कि वे निरंतर शुद्ध उपयोग में नहीं रह पाते। वीतराग कहो, शुद्धोपयोग कहो, चित् (आत्म) रंजन कहो एक ही बात है। सराग कहो, शुभोपयोग कहो, मनोरंजन कहो एक ही बात है। मनोरंजन चित्रंजन के लिये होता है चित्रंजन मनोरंजन के लिये नहीं। जो मनोरंजन आत्मरंजन में आई अरुचि को दूर करने में साधक है वह समीचीन हैं। समीचीन मनोरंजन भी सीमित समय एवं समय समय पर किये जायें तब साधक है अन्यथा अशुभोपयोग के समान ही बाधक है, जैसे छात्रों के लिए अश्लील मनोरंजन।

एक मां लड़के की शिकायत कर रही थी कि इसका पढ़ने में मन नहीं लगता। हमने कहा- खेलता कितनी देर है ? कहने लगी- दिनभर। ऐसी स्थिति में वह कभी भी मन नहीं लगा सकता। यह तो जब कभी भी अनुभव में आता है कि शक्ति का उल्लंघन करके किया गया शारीरिक एव मानसिक परिश्रम मनोरंजन आवश्यकों में अरुचि पैदा करता है। विषयानुराग रूप मनोरंजन तो लक्ष्य से च्युत ही कर देता है जिसका आगे इसी प्रकरण में उल्लेख किया जाने वाला है। जिस समय अध्ययन में रुचि नहीं होती अध्ययन करते हुए भी प्रतीक्षारत रहता है कि कब छूटूं और खेलूं। और जब अध्ययन में रुचि की अधिकता होती है खेलते समय भी अध्ययन के लिए प्रतीक्षारत रहता है। उसी प्रकार प्रवृति में जब तक रुचि की अधिकता रहे सामयिक जो चित्रंजन का समय है वह अखरता है और जब निवृत्ति में रुचि की अधिकता हो तो प्रवृति का समय खटकता है।

54. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, चित्रंजन में लगते बगला भगत समान।

साधु का अन्य मनोरंजनों की अपेक्षा सोने में अधिकांश समय बर्बाद होता है। जाग्रत अवस्था में आहार, निहार में समय बर्बाद होता है। समय समय पर विहार एवं उपदेश भी आवश्यक है इनमें भी समय लगता है। नहीं चाहते हुए भी अनिवार्य जैसे ही हैं। एक स्थान पर अधिक समय स्थिर रहना भी चित्रंजन में बाधक है। प्रश्न उठता है- क्या सोना भी चित्रंजन में साधक है ? हाँ। कोई भी हो अधिक समय से सोया न हो तो मनोरंजन हो या चित्रंजन किसी भी कार्य में उत्साहित नहीं होता करने में। जब चित्रंजन की ओर विशेष झुकाव होता है तब कभी-कभी विचार आता है कि सोते समय स्वप्न तो आते ही हैं उनमें निष्प्रयोजनीय मनोरंजन न हों, प्रयोजन भूत हों जिससे कर्म भार हलका हो।

वैज्ञानिकों के द्वारा हो रहे नित्य नये आविष्कार से जुटाये जा रहे मनोरंजन के साधनों या जिन्होंने मनोरंजनों के साधनों को जुटाना ही अपनी आजीविका या धन कमाने का

साधन बना लिया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों को अध्ययन की ही नहीं, किसी भी व्यक्ति को मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। या फिर सोचते हैं कि मैंने जिस मनोरंजन का आविष्कार किया है या मैं जो दिखा रहा हूँ वही सही है अन्य नहीं। उसी प्रकार साधुओं के द्वारा अनिवार्य रूप से किये जाने वाले उपरोक्त शुभ उपयोग रूप मनोरंजनों से अतिरिक्त भक्तों की प्रेरणा से कराये जाने वाले मनोरंजनों से ऐसा प्रतीत होता है कि साधुओं को चित्रंजन की कतई आवश्यकता नहीं है। या फिर धर्म प्रभावना के क्षेत्र में गृहस्थों के निकम्मेंपन को देखते हुए साधु स्वयं सोचता है कि अब चित्रंजन का समय नहीं रह गया है।

देखा ही जाता है साधु यदि चित्रंजन की स्थिति में हों अर्थात् सामायिक में या उसके साधक प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, स्तुति में हों और आगत भक्त की ओर देखें न, बोलें न, मुस्करायें न तो उसके आने का उत्साह ठन्डा पड़ जाता है, क्योंकि वह साधु की इस अवस्था को देखने नहीं आया है, अपितु भक्त को देखते ही साधु मुस्करा दे, हाल-चाल पूछे, आशीर्वाद दें इस रूप में देखना चाहता हैं। भले इसके अनुकूल होने के लिए सामायिक तक छोड़ दें। सुनने-पढ़ने में भले अटपटा सा लगे कि शुभ उपयोग की सूचक जितनी भी क्रियायें है वे सब साधुओं के लिए मनोरंजन ही है। चाहे वे मंदिर निर्माण हों या क्षेत्र निर्माण, नित्य पूजा अभिषेक हों या समय समय पर होने वाले विधान, पंच कल्याण हों। जब ये भी आजीविका एवं धन संचय के साधन बन चुके हों तब दर्शकों के लिए मुफ्त कैसे हो सकते हैं। विद्यार्थी विद्या अध्ययन के समय विद्याध्ययन ही करता है धनार्जन नहीं, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर। ऐसी स्थिति में मनोरंजन का रसिक जिस किसी भी तरीके से धन प्राप्ति के लिए प्रयास करेगा। ठीक यही स्थिति साधुओं की है। धार्मिक आयोजन के नाम पर किस कदर अनैतिकता बरत रहा है धन बटोरने के लिए कि जिसे सुनकर शरीर का खून सूखने लगता है।

55. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, अश्लील तर्ज के बिना तृप्त न होते दोनों कान।

विषयानुराग का यह युग है अर्थात् विषयानुरागियों का बहुमत है अत: अश्लील से अश्लील मनोरंजन देखने वालों की संख्या अधिक है। मनोरंजन को व्यवसाय बना देने वालों को किसी के भी हिताहित का ध्यान नहीं होता। अत: दर्शकों की संख्या, रुझान को देखते हुए मनोरंजन को जितना अश्लील बना सकें बनाने से चूकते नहीं है। अश्लीलता के दुष्प्रभाव से कोई अछूता हो कहा नहीं जा सकता। साधुओं को वे अश्लीलतायें देखने नहीं सुनने अवश्य मिल

जाती हैं, अश्लीलताओं से संबंधित गानों के रूप में जो घर-घर, गलियों-गलियों, गांव-गांव बजा करते हैं। मंदिरों में सीधे-सीधे तो बजाये नहीं जा सकते, लेकिन अश्लील तर्जों पर बने भजन अवश्य सुनने मिल जाते हैं। अभी-अभी हुए सिद्ध चक्र मण्डल विधान में एक भोजक गा रहा था - 'पड़गाहले मुनिवर प्यारो लगे' जिस व्यक्ति ने 'सरकाय ले खटिया जाड़ों लगे' यह विषयानुरागमय पंक्ति नहीं चाहते हुए भी कानों में आने पर सुनी है, तब भजन के रूप में अश्लील गाने की तर्ज पर सुनी पहली पंक्ति को सुनकर उपयोग कहाँ जायेगा। सुनकर लोग पड़गाहेंगे तो नहीं खटिया अवश्य सरकवाने लगेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि धर्मानुराग रूप ये आयोजन अश्लीलताओं से अछूते नहीं हैं। साथ ही प्रतियोगिता का रूप लिये होने से राग-द्वेष के कारण हैं गांव-गांव तक की प्रतिष्ठा का कारण बने हुए हैं। विषयानुरागमय अश्लील तर्ज से जुड़े ये धार्मिक मनोरंजन साधुओं के चित्रंजन में सहायक हो सकेंगे ? नहीं। बलिहारी है उन साधुओं की जो संगीत मय आयोजनों में पण्डाल में बैठकर चित्रंजन हो जाते हैं। (व्यंग्य)। ये आयोजन किसी के लिए आजीविका, किसी के लिए व्यवसाय, किसी के लिए धन बटोरने का साधन, किन्हीं के लिए प्रदर्शन, प्रतिष्ठा, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता का रूप लेने से इतने मंहगें हो गये हैं कि एक व्यक्ति के धन के वश के नहीं रहे। इनकी इतनी विशेषता अवश्य है, भले ही साधारण लोग इन्हें स्वयं न करवा सकें निःशुल्क देखने अवश्य मिल जाते हैं।

अध्ययन में ही विशेष रुचि रखने वाले छात्र अध्ययन में कुछ समय के लिए आयी अरुचि को कबड्डी, बालीवाल, क्रिकेट आदि निःशुल्क मनोरंजन करके दूर कर लिया करते हैं, लेकिन इस समय का साधु उन विद्यार्थियों के समान उपरोक्त आयोजनों का रसिक है जो निःशुल्क खेलों के समान आहार, विहार, निहार, धर्म उपदेश रूप मनोरंजन से चित्रंजन में आयी अरुचि को दूर नहीं कर पा रहा है। आयोजनों को करवाने में इनकी आसक्ति को देखते हुए लगता है कि इनकी आत्मरंजन में रुचि रही ही नहीं या आयोजनों/मनोरंजनों की चपेट में मर गई है।

56. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, मनोरंजन से कब छूटूं चित्रंजन भगवान।

आचार्य कुन्द-कुन्द देव कहते हैं- गणपोषकों (आचार्यो) को अल्प कौतुहली होना चाहिए। दूसरों के द्वारा किये जा रहे मनोरंजन को देख, सुनकर प्रसन्न होना और अपने द्वारा किये जा रहे मनोरंजन से स्वयं प्रसन्न होना एवं दूसरों को प्रसन्न होते हुए देख कर प्रसन्न होना। विशेष रूप से यह समझें- कुछ लोग मनोरंजन की बात करके, दूसरा प्रसन्नता व्यक्त करे या न करें अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर ही देते हैं। बहुत कम ऐसे लोग होते हैं जो दूसरों

को प्रसन्न तो कर देते हैं लेकिन स्वयं की प्रसन्नता अभिव्यक्त नहीं होने देते। पहले ही उल्लेख कर आये हैं कि आहार, विहार, आदि साधुओं के लिये मनोरंजन ही हैं। वर्तमान समय में इन मनोरंजनों के लिए भी मनोरंजन की आवश्यकता है। प्रायः लोग शिकायत करते हैं कि आप आहार के समय प्रसन्न मुद्रा में नहीं रहते, जबकि रहना चाहिए। आहार करते समय जब कभी आप मुस्करा देते हैं चौके के वातावरण/माहोल कुछ और ही हो जाता है अन्यथा क्रोधावस्था में लोगों को भय बना रहता है। विहार, उपदेश, वैयावृत्ति आदि के समय में मैं मनोरंजन करता रहता हूँ। जिसमें कुछ तो आवश्यक/प्रयोजनीय और अधिकांश अनावश्यक/निष्प्रयोजनीय भी होता है। करने के बाद विचार आता है कि इसमें स्व-पर हित निहित नहीं है। सिवाय झूठी प्रशंसा पाने के। इस कमजोरी का अनुभव मैं जब कभी करता रहता हूँ। इसके बाद भी लोग आहार के समय मौन अवस्था में मुझसे मनोरंजन चाहते हैं। हम कहा करते हैं- बनावटी मनोरंजन करना हमें आता नहीं है। प्रसंग वश यथावसर हो जाये यह अलग बात है।

निर्दोष ईर्यापथ में बोलना ही बाधक है फिर मनोरंजन करते हुए ईर्यापथ की क्या स्थिति होती है यह भी अनुभव है। इसके बाद भी मैं चाहता हूँ कि अधिक से अधिक लोग मेरे साथ चलें या जो चल रहे हैं वे ऊवे (बोर) न होवे इस अपेक्षा से या में स्वयं मनोरंजन करुंगा या भक्तों के द्वारा किये जा रहे ऊटपटांग मनोरंजनों पर रोक नहीं लगाऊंगा अन्यथा भक्त साथ कैसे देंगे, अतः सारा साधु समुदाय विहार के मनोरंजन को आवश्यक समझ रहा है।

नाटकों में नाच के समान उपदेश में उदाहरण/मनोरंजन न हों तो दर्शकों की तरह श्रोताओं का उपदेश में मन लगाये रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वक्ता साधु अधिक से अधिक श्रोताओं को सुनाने में ही उपदेश की सार्थकता समझता हो तब तो मनोरंजन ही मुख्य हो जाता है उपदेश गौण या मनोरंजन करने को ही उपदेश देना समझ लेता है। वक्ता को सुनाने की गरज हो तो दर्शकों की रुचि के अनुसार मनोरंजन निर्माताओं की तरह श्रोताओं की रुचि के अनुसार नित्य नये मनोरंजन तैयार कर प्रस्तुत करेगा। उपदेश को ख्याति बटोरने, व्यवसाय बना लेने वाले चित्रंजन की ओर दृष्टि पात करने देंगे स्व पर को? ऐसे ही एक व्यक्ति कह रहे थे- अमुख साधु अपने उपदेशों से श्रोताओं को आदि से अंत तक हंसाते ही रहते हैं। हमने कहा- यह कोई विशेषता नहीं है। विशेषता तो रुलाने में है। सुनकर श्रोता पश्चाताप से आंसू बहाते रहें आद्योपांत। गणपोषकों से भी यही सलाह मिलती है कि श्रोता हंस जाये ऐसा उपदेश देना।

मनोरंजन से परे एवं चित्रंजन में सदा के लिए लीन निरंजन भगवान से प्रार्थना करता हूँ वह समय इस जीवन में कब आयेगा जब चित्रंजन में बाधक मनोरंजन के प्रभाव से मुक्त

हो सकूं जो समाधि का प्रथम कदम है। निष्प्रयोजन मनोरंजन से प्रसन्न होना प्रसन्नता व्यक्त करना एवं वैसे ही मनोरंजनों से दूसरों को प्रसन्न करना प्रशंसा पाने के लिए। यह कृत्य प्रतिक्षण बालबाल मरण को सूचित करता है, समाधि को नहीं।

57. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, एक ओर होते मनोरंजन एक ओर रोते इंसान।

अभी-अभी एक शिक्षक से ज्ञात हुआ कि मुझे इस गांव के सर्वे करने का कार्य सौंपा गया कि गरीबी रेखा से नीचे (जिनकी मासिक आय सत्रह सौ रूपये से कम है) कितने लोग हैं और गरीबी रेखा से ऊपर कितने लोग/परिवार हैं। शर्त इतनी रखी की जिनके यहाँ टी.वी., रेडियो, कूलर, पंखा आदि हैं उन्हें गरीबी रेखा से नीचे नहीं गिना जायेगा, भले ही मासिक वेतन सत्रह सौ से कम क्यों न हो। या सरकार सोचती है- जिनके पास उपरोक्त चीजें है वे गरीबी रेखा से नीचे हो ही नहीं सकते। या अनैतिक ढंग से प्राप्त की होगी। अधिकांश लोगों ने, उपरोक्त चीजें उनके यहाँ होते हुए भी नहीं दिखाया/बताया अपने आप को गरीबी रेखा से नीचे घोषित करने के लिए। ऐसा इसलिये किया कि गरीब के नाते सरकार से किसी न किसी रूप में आर्थिक सहयोग मिल जाये। मनोरंजन एवं उनके साधनों की चकाचौंध में लोगों को उदर पोषण की इतनी चिन्ता नहीं है जितनी मनोरंजनों के साधनों को जुटाने की। एक कंधे पर कुदाल, फावड़ा और दूसरे कंधे पर रेडियो लटकते हुए देखते हैं तो स्वयं ही हंसी आ जाती है। एक तुकबंदी सुनी थी- जिस गृहस्थ के पास एक कोंडी नहीं है वह एक कोंडी का नहीं है। उसी प्रकार जिस साधु के पास एक कोंड़ी है वह एक कोंड़ी का नहीं है। गड्ढे को कुछ भी डाल कर भरा जा सकता है, लेकिन तृष्णा रूपी गड्ढा उसमें से सब कुछ निकालकर भरा जाना सम्भव है। धन के अभाव में मनोरंजन के साधनों का अभाव और इनके अभाव में मनोरंजन नहीं हो सकता। चित्रंजन के लिए ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'मूर्च्छा परिग्रह' के अनुसार साधु के पास एक कोंडी भी चित्रंजन में बाधक है। परमार्थ दृष्टि से गरीब वह है जिसके पास कुछ है। उपरोक्त कानून से हटकर कुन्द कुन्द स्वामी ने निश्चय किया कि जिस साधु के पास परमाणु मात्र भी राग विद्यामान है वह सम्पूर्ण आगम का ज्ञाता होते हुए भी आत्मा को नहीं जानता। मनोरंजन के साधनों को भी मनोरंजन कहते हैं कि तरह परिग्रह के साधन को परिग्रह कहते हैं "नग्नत्व समीक्षा" के अनुसार यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि पिच्छी-कमण्डल, शास्त्र और चार दीवार के अतिरिक्त साधु के कुछ भी विद्यमान है वह गरीबी रेखा से नीचे है व्यवहारिक दृष्टि से। गरीबी रेखा से ऊपर होते हुए भी नीचे दिखा कर सरकार को धोखा

दिया जा सकता है। साधु दोनों दृष्टि से गरीबी रेखा के नीचे होकर भी ऊपर दिखाकर धोखा दे सकता है समाज को, लेकिन कर्म को धोखा नहीं दे सकता।

कोई किसी की खुशी में खुशी भले ही प्रगट न करें, लेकिन दु:ख में दु:ख प्रगट अवश्य कर लिया करता है, भले ही औपचारिकता वश ही प्रगट करें, लेकिन इस मनोरंजन के युग में उस औपचारिकता की भी आवश्यकता नहीं रह गई। पड़ोसी के ऊपर दु:ख का पहाड़ क्यों न टूट पड़ा हो पड़ौस में टी.वी. चलती हुई देखी एवं सुनी गई है। ऐसी स्थिति में उस दु:खिया के ऊपर क्या बीतती होगी। ''वसुधामेव कुटुम्बिकम्'' के अनुसार मनोरंजन उस समय शोभा देता है जब कोई विपत्ति का मारा न हो। कौन नहीं जानता भारत में अनगिनते लोगों को दो टाइम भोजन भी नहीं मिल पाता। दूसरी ओर सरकार क्रिकेट जैसे खेलों में एक आयोजन में करोड़ों रूपये अपव्यय कर देती है। जैन समाज में भी ऐसे लोग हैं जो सपरिवार कष्टमय जीवन गुजार रहे हैं। दूसरी ओर साधु भी करोड़ो रूपये व्यय करवाके रंगरागमय मनोरंजनों का आनन्द लेते रहते हैं। अज्ञान दशा में गरीबी रेखा से नीचे जीवन गुजारने वाले साधु अपव्ययी आयोजनों की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लेते हैं तब लगता है कि मजदूर एक कंधे पर कुदाल-फावड़ा और दूसरे पर रेडियो टांगे हो।

58. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, दुरुपयोग को सदुपयोग समझते नादान।

आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी उपरोक्त खेलों में विशेष कोई रुचि नहीं दिखाते, अपितु धन के साथ-साथ समय की बर्बादी करना कहते हैं। हमारे व्यक्तिगत विचार से उनकी सोच में कहीं भी अन्यथा नहीं है। लेकिन भारत जैसा विकासशील विपन्न देश जहाँ की अधिकांश जनता विपन्नता से जूझ रही है, अनैतिकता बरत रही है, देश की उन्नति का कारण शिक्षा की जड़े हिल चुकी हैं वहाँ उपरोक्त मनोरंजन उन्नति पर हैं। आयोजक खिलाते हुए खिलाड़ी खेलते हुए, दर्शक देखते हुए समय बर्बाद तो करते ही है साथ ही आयोजक रूप रेखा बनाते हुए, खिलाड़ी दूर देश से दूर देश तक पहुंचते हुए और दर्शक खिलाड़ियों की हार-जीत पर प्रशंसा निंदा करते हुए समय बर्बाद कर देते हैं। ठीक यही स्थिति इस देश में जैन समाज के श्रावक एवं साधुओं की है। विकसित देशों के देशवासियों की तरह एवं निरंतर अध्ययन शील छात्रों की तरह ज्ञान, ध्यान, तप, में अधिकांश समय निकालने वाले प्रशंसनीय साधु न के बराबर हैं जो सारहीन, अपव्ययी (फिजूलखर्ची) अनावश्यक, आरम्भ, सारम्भमय पंच कल्याण गजरथ महोत्सव आदि मनोरंजनों की अगुवाई करके सक्रिय सहयोगी बनकर अपनी आत्म साधना के लिए दिये जाने वाले

अमूल्य समय को बर्बाद करना न समझते हों और गृहस्थों के द्वारा कमाये हुए पापमय धन को बर्बाद करना न मानते हों। वस्तुत: धर्म के नाम पर किये जाने वाले ये मनोरंजन समाज के नैतिक पतन का कारण बने हैं। किसी भी आयोजन की रूप रेखा बनाते समय गृहस्थ तो समय बर्बाद करना मानता ही नहीं साथ ही सहयोगी साधु भी उसका सदुपयोग करना समझ रहा है। प्रभावक साधुओं का सानिध्य के लिए चक्कर काटने वाले तो समय का सदुपयोग तो समझते ही हैं, अल्प समय में मरत जियत भागने वाला साधु भी समय एवं श्रम बर्बाद करना नहीं मानते। दर्शकों का समय बर्बाद नहीं हो रहा मानना कैसे सम्भव हो सकता है।

एक आचार्य विशेष रूप से परीक्षा किये बिना जिस किसी को दीक्षा देने के पक्ष में हैं, लेकिन उन्हें शिक्षा देने में शनै:शनै: विमुख हो रहे हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी शिक्षक ने अर्थ प्रलोभन की दृष्टि से जिस किसी छात्र को भर्ती कर लिया हो और कुछ की उद्दण्डता/अवज्ञा/कृतघ्नता पर सभी को पढ़ाने से उदासीन हो गये हों। प्रश्न उठता है शिष्य को शिक्षित करना अपराध है या उनका शिक्षित होना अपराध है या अधिक से अधिक शिष्य बनाने की गृद्धता से लापरवाही बरतना अपराध है। इनके सानिध्य, मार्ग दर्शन, अगुवाई में होने वाले नये नये तीर्थों का इन्हीं के नामों से निर्माण, पुरानों का जीर्णोद्धार में इनके रहते हुए ही लोगों में सक्रियता रहती है इनके वहाँ से चले जाने के बाद लोगों में निष्क्रियता आ जाती है तब ये उनके प्रति उदासीन क्यों नहीं हो जाते अपितु ये जहाँ पहुंचते हैं वहीं पर कुछ न कुछ कराने की रूप रेखा तैयार हो जाती है। अध्ययन में सर्वथा अरुचि रखने एवं मनोरंजन में ही सारा समय निकालने वाले छात्र के समान आरम्भ-सारम्भमय क्रिया कलाप रूप मनोरंजनों को करवाना ही जीवन का लक्ष्य बना लिया है अर्थात् मनोरंजन में ही चित्रंजन की इतिश्री हो गई है विद्यार्थियों की मनोरंजन में अध्ययन की इतिश्री के समान।

59. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, तीनों की लापरवाही, उदरपोषण से परेशान।

शहरों की अपेक्षा गांव में शिक्षा के प्रति काफी उदासीनता है। शिक्षक पालकों को दोषी ठहराते हैं कि ये बालकों को पढ़ने नहीं भेजते। पालक शिक्षकों को दोषी ठहराते हैं कि ये समय पर एवं प्रतिदिन नहीं आते पढ़ाने के लिए। बालकों से कहते हैं- आजकल की संतान पढ़ना ही नहीं चाहती। बालक शिक्षकों को दोषी ठहराते हैं। सरकार सभी को दोषी ठहराती है। हम समझते हैं पालकों में पढ़ाने एवं बालकों में पढ़ने की रुचि हो तो शिक्षक

लापरवाही बरत ही नहीं सकते। बालकों में शिक्षा के प्रति अरुचि को देखते हुए मनोरंजन करते हुए अध्ययन कराने की योजना बनाकर शिक्षकों को प्रशिक्षित कर रही है। मिलावट का युग है, देखो, कितनी सफलता मिलती है। प्रयोजनभूत माने जाने वाली लौकिक शिक्षा के प्रति जब इतनी उदासीनता देखी जा रही है, तब निष्प्रयोजनीय समझी जाने वाली धार्मिक शिक्षा के प्रति उदासीनता किसी से छुपी नहीं है। यह तो हुई गृहस्थों की बात। श्रावक हो या साधु मनोरंजन के संस्कार अनादि के हैं, अत: पद के अनुसार उनकी ओर झुकाव सहज ही हो जाता है। जिनकी सारी दिनचर्या ध्यान, अध्ययनरूप है फिर इनके प्रति उदासीनता में उपरोक्त संस्कार ही कहे जायेंगे। मनोरंजन का परिणाम तो विद्यार्थी अपनी आंखों से स्वयं देख लेता है जब सपरिवार उदरपोषण करने में असमर्थ रहता है तब सारे जीवन पश्चाताप करता है अपनी नादानी पर। साधु श्रावकों को मनोरंजन के परिणाम दिखने में आ जायें तो कभी लापरवाही नहीं बरत सकते शिक्षा के प्रति। अधिकांश शिष्यों में भी तो अध्ययन के प्रति तीव्र जिज्ञासा देखने में नहीं आती। हो तो गुरु को भी घुटने टेकने पड़ेंगे/ बाध्य होना पड़ेगा उनकी अध्ययन की व्यवस्था के प्रति। होश सम्हालते ही जिस छात्र को यह आभास हो जाये कि शिक्षा के बिना मेरा जीवन अंधकारमय है, तब अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी व्यवस्था कर लेता है। वह कितना अधिक जिज्ञासु होगा उसका वह पुरुषार्थ बता रहा है। इस विषय में मैं अनुभव की बात बताते हुये अपनी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता कि मैंने अपने पैरों पर खड़े होकर अध्ययन किया है न्याय, व्याकरण जैसे नीरस विषय का। शुरु में गुरु का उपकार तो है ही। खातेगांव जैसे उदार दाता जैन समाज में अभी हैं साधु जैसी चाहें वैसी व्यवस्था जुटा सकते हैं अध्ययन की।

गांव में जहाँ छात्रों की संख्या कम होती है वहाँ एक ही शिक्षक पहली से पांच कक्षाएं अकेले पढ़ाता है और जहाँ संख्या अधिक होती है वहाँ एक कक्षा के सभी विषय एक शिक्षक पढ़ाता है, लेकिन छटवी क्लास के अलग-अलग विषय के अलग-अलग शिक्षक होते हैं। इस व्यवस्था को हम अति उत्तम मानते हैं। क्योंकि एक व्यक्ति का सभी विषयों में अधिकार हो आज के समय में बहुत कम देखा जाता है। कुछ हों भी तो अल्प संख्या में होने से काम नहीं चल सकता। प्रतिदिन इतना परिश्रम भी तो नहीं कर सकता भिन्न-भिन्न छह-सात विषयों के शिक्षकों के बराबर। शिष्यों के साथ लापरवाही बरतने का यह भी एक कारण है कि गणपोषक एक साथ साधु, उपाध्याय एवं आचार्य तीनों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर चलते हैं। इसके अतिरिक्त समाज ने इन्हें और भी जिम्मेदारी भी तो सोंप रखी हैं जैसे सरकार शिक्षकों को अध्ययन के अतिरिक्त आये समय अन्य अनेकों जिम्मेदारी सोंपती रहती है जिसका इसी प्रकरण में उल्लेख करके आये हैं।

60. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, शिक्षा गुरु का महत्व दीक्षा गुरु के समान।

यह पूछने पर उत्तर देना सहज नहीं है कि शिक्षा गुरु का महत्व अधिक है या दीक्षा गुरु का ? किसी को कोई शिक्षा गुरु बनाए लोग इस पर गौर नहीं करते, न पूछते ही हैं कि आपके शिक्षा गुरु कौन हैं, लेकिन बिना दीक्षा गुरु बनाये यदि कोई भगवान को, समाज को साक्षी करके दीक्षित हुआ हो तब समाज में उसकी स्थिति बिना प्रमाण पत्र के शिक्षित हुए जैसी है। लोगों की इस मनोवृत्ति से ज्ञात होता है कि दीक्षा गुरु का महत्व है। किसी ने किसी को वर्षों शिक्षित किया हो और कहीं दीक्षा गुरु न बन पाये तो पश्चाताप करता है। इससे भी दीक्षा गुरु का महत्व सिद्ध होता है। शिक्षा तो हर किसी को कोई भी दे सकता है, लेकिन दीक्षा देने का अधिकार गणपोषकों को ही होता है इसलिए भी दीक्षा गुरु का महत्व सिद्ध होता है। किसी का किसी को दीक्षा गुरु बनने में कम से कम दो-तीन घंटे लगते हैं, लेकिन शिक्षा गुरु बनने की कोई सीमा नहीं है। इसके बाद भी जितनी जिम्मेदारी दीक्षा गुरु की है शिक्षा गुरु की कुछ भी नहीं है इसलिए दीक्षा गुरु का महत्व है।

भले ही लोग शिक्षा गुरु के महत्व पर गौर करें या न करें, लेकिन उसके महत्व को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता। एक शिक्षक ने अपनी बीती सुनाई- एक मुसलमान का लड़का प्रतिदिन देर से आता था। उसे रोज दो चांटे पड़ ही जाते थे। एक दिन उससे प्रेम से पूछा- बेटा ऐसा क्यों करते हो ? कहने लगा- गुरुजी मेरी मां मजदूरी करती है। उससे जो कुछ मिलता है उसमें दो रोटी मेरे हिस्से में आती हैं। यदि मैं समय पर आने लगूं तो वे भी नहीं मिलेगी। मैंने कहा- बेटा। रोटी की चिंता नहीं करना कल से समय पर आना। दूसरे दिन से मैं अपनी तरफ से रोटी की व्यवस्था करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि सहयोग और पुरुषार्थ से आगे चलकर डाक्टर बन गया। अब जब कभी आता है। हजार दो हजार की भेंट चढ़ाता है ना करने पर कहता है- मना नहीं करना यह दो रोटी का कमाल है। लौकिक शिक्षा को देने-लेने वाले तो स्वार्थ से जुड़े हुए होते हैं। धार्मिक शिक्षा में स्वार्थ गौण होता है। चित्रंजन के समय को छोड़ कर शिक्षा दे रहा हो तो लेने वाला कौन सम्यग्दृष्टि होगा जो ऐसे दीक्षा गुरु के उपकार की उपेक्षा करेगा अर्थात् शिक्षा गुरु को महत्वहीन समझेगा ?

उपरोक्त घटना तो स्वार्थमय संबंध को लिए हुए है अर्थात् लौकिक है। और लौकिकता निस्वार्थ नहीं होती फिर भी ऐसे शिक्षकों की इस समय बहुत कमी है। इस समय परमार्थ लौकिकता से सर्वथा अछूता नहीं है। जैन सम्प्रदाय में तेरा-बीस पंथ काफी

जोर पकड़े हुए हैं। व्याकरण सीखने का इच्छुक बीस पंथी साधु के पास पहुंचा। उन्होंने इस शर्त पर सिखाना स्वीकार किया कि तुम्हें बीस पंथी अम्नाय के अनुसार चलना होगा। स्याद्वाद विद्यालय बनारस का अधिष्ठाता जब गोला पूर्व समाज का पण्डित बनता था तो वह परवार समाज के विद्यार्थियों को वहाँ रखता नहीं था। इन फिरकों में उलझी मानसिकता के कारण जिज्ञासुओं का धार्मिक शिक्षा से वंचित रह जाना स्वाभाविक है। ऐसे स्वार्थी साधुओं के विषय में सुना गया है कि दीक्षा देते समय अपने ही पंथ का अनुकरण करने पर जोर नहीं देते। ऐसा भी हो रहा है। उपरोक्त शिक्षक ने उसे हिन्दू बनने जैसी शर्त नहीं रखी थी। मैं अपने व्यक्ति विचार से कहूँ कि पंथों में जिन की मानसिकता उलझी है उनकी समाधि न हुई है न होगी, अतः पंथों से हटकर, फिरकों से हटकर दीक्षा-शिक्षा गुरुओं को समान महत्व दिया जाना चाहिए।

समाधि के लिए 'समाधि' शब्द तो आता ही है 'सल्लेखना' शब्द भी आता है। शब्द भेद होते हुए भी अर्थ भेद नहीं है, दोनों में। अर्थात् दोनों का एक ही अर्थ/प्रयोजन/उद्देश्य है। 'धी का अर्थ ज्ञान है।' 'सम' का अर्थ समीचीन अर्थात् ज्ञान में राग-द्वेष का न होना समाधि का शाब्दिक अर्थ है। और सम्-समीचीन रूप से अर्थात् अच्छी तरह काय एवं कषाय का कृश होना/ करना या दोनों को कमजोर करना सल्लेखना का शाब्दिक अर्थ है। राग-द्वेष का अभाव का अर्थ कषाय का कृश होना एवं कषाय कृश करने का अर्थ राग-द्वेष का अभाव करना। दोनों का शाब्दिक अर्थ एक ही सिद्ध हुआ। काय का कृश तो होना ही है अब चाहे कषाय कृश हो या न हो। मात्र काय के कृश करने को सल्लेखना नहीं माना है। सल्लेखना में कषाय को कृश/कमजोर करना मुख्य है और काय को कृश करना गौण है। पुरुषार्थ कषाय कृश के लिए किया जाता है ऐसी स्थिति में काय का कृश होना स्वाभाविक क्रिया है। समाधि में बाधक विशेष रूप से कषाय है। काय भी बाधक है लेकिन उतनी नहीं। कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जिनका काय कृश हुए बिना कषाय कृश नहीं हो सकती। अर्थात् पुण्यानुबन्धी पाप के उदय से जिसे शरीर बल प्राप्त हुआ हो तो शरीर को कृश किये बिना कषाय कृश नहीं होती, न कर सकता है। पापानुबंधी पापात्मा के शरीर कृश होने पर भी कषाय कृश नहीं होती, अपितु बढ़ती है यदि प्रतिकार की भावना होते हुए भी प्रतिकार करने की सामर्थ्य न रह जाये तो। पुण्यानुबंधी पुण्य का उदय हो तो चला कर काय कृश करने की आवश्यकता नहीं है। उसे कृश किये बिना ही कषाय कृश रहती व हो जाती है। कर्म के उदय से संक्लेशता नहीं आती, अपितु, उदीरणा से भी आती है। और उदीरणा होती है विकृत धातु उपधातुओं से। बाह्य निमित्तों से तो होती ही है। इस दृष्टि से समाधि में शरीर की बाधकता को नकारा नहीं जा सकता।

61. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, प्राय: वही सफल होते हैं जिन्हें है आयुर्वेद ज्ञान।

अनुभवी मुनि मनीषियों का कहना है निर्यापकाचार्यों को ही नहीं, सामान्य आचार्यों को भी आयुर्वेद का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि किसी साधक के शरीर की रचना/बनावट एवं वात, पित्त, कफ प्रकृति के आधार पर आत्मा की वर्तमान दशा/स्वभाव से परिचय प्राप्त किया जा सकता है एवं आत्म स्वभाव के आधार पर शरीर की प्रतिदिन प्रतिक्षण बदलने वाली स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। कर्म, नोकर्म (शरीर) का आत्मा के साथ

घनिष्ट संबंध के आधार पर एक दूसरे के निमित्त से एक दूसरे का परिचय पाना कठिन अवश्य हो सकता है असम्भव नहीं। वैसे भी साधक स्वयं चाहे तो साधु या श्रावक बनने के बाद या पहले से ही शरीर को दिये जाने वाले आहार के आधार पर शरीर में होने वाली प्रतिक्रिया से भावों से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इतना की किसी निर्यापक आचार्य के आलंबन की आवश्यकता न पड़े विशेष रूप से। अभ्यास अपने आप में एक अनोखी चीज है जिससे कठिन से कठिन कार्य सहज हो जाता है। ज्ञानी अनभ्यासी भी पीछे रह जाता है अज्ञानी अभ्यासी के सामने। पुण्यानुबंधी पुण्य का उदय हो तो आत्मबल के साथ शरीर बल भी होता है, पापानुबंधी पुण्य का उदय हो तो आत्म बल नहीं शरीर बल अवश्य होता है, पुण्यानंबंधी पाप का उदय हो तो आत्मबल होता है शरीर बल नहीं, और पापानुबंधी पाप के उदय में दोनों ही नहीं होते। आत्मबल के अभाव में समाधि नहीं हो सकती, भले ही आगम विधि विधान से नवग्रैवेयक तक चला जाये, काय के कृश एवं कषाय को दवा करके; क्योंकि समाधि में बाधक निदान बंध आर्तध्यान को वह छोड़ नहीं पाता। देखने में लगता अवश्य है कि समाधि मरण हो गया। आत्मबल से तात्पर्य सम्यग्चरित्र से है। आत्मबल में क्रमश: विकास कषाय के क्रमश: कृश होने पर ही होता है। मात्र सम्यग्दर्शन के होने पर समाधि होना जरुरी नहीं, लेकिन इसके बिना भी सम्भव नहीं। सल्लेखना व्रत है और अव्रती को होता नहीं, भले ही सद्‌गति पा जाये। अव्रती में आत्मबल कमजोर होता है अत: जैसे शरीर बल क्षीण होता है वैसे वैसे आत्मा में संक्लेश के कारण कर्म की उदय, उदीरणा हावी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भी अभ्यासियों पर इनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। निर्दोष समाधि में अर्थात् आगम अनुसार विधि-विधान से समाधि में बाधक उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा एवं रोग पुण्यानुबंधी पुण्यात्मा के जीवन में नहीं आ पाते तब संक्लेशित होने का सवाल ही नहीं उठता। पुण्यानुबंधी पापात्मा के जीवन काल में इनका प्रकोप होने पर भी अभ्यास एवं आत्मबल पर संक्लेशित होने से बच जाता है।

62. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, हर क्षण तैयार रहना वहीं भेद विज्ञान।

योग्यता प्राप्त करने वाला विद्यार्थी परीक्षा के निकट समय की प्रतीक्षा नहीं करता कि जब परीक्षा का समय निकट आयेगा तभी अध्ययन कर लेंगे, लेकिन पास होने के लक्ष्य वाला पढ़ाई को परीक्षा के निकट के समय के लिए छोड़ देता है। हमने ऐसा किया है, अत: अनुभव है कि कई बार धोखा खाये हैं। तत्काल लगता है कि मुझे याद हो गया है और कॉपी हाथ में आते ही शब्दश: लिख आऊंगा या मौखिक बता दूंगा, लेकिन उल्टा होता है-

याद किया हुआ भी भूल जाते थे। परीक्षा के निकट समय के लिए नहीं छोड़ा जाता तो भूलने का अवसर कम ही आता। भूल जाने का एक कारण और भी है बिना अर्थ समझे कंठस्थ करना। अर्थ सहित कंठस्थ करे तब भूल जाने पर अपने शब्दों में उसे लिखा जा सकता है।

परीक्षा का निश्चित समय भी विद्यार्थियों के अध्ययन में लापरवाही का कारण है। वैसे तो बीच बीच में परीक्षायें होती रहतीं हैं, लेकिन उनका पास-फैल से संबंध न होने के कारण अध्ययन में लापरवाही ही बरती जाती है। कभी भी परीक्षा लेने का नियम हो तो छात्र लापरवाही नहीं बरत सकते। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सभी छात्रों की ग्रहण एवं धारण शक्ति एक सी ही होती हो। कुछ तो ऐसे प्रतिभाशाली होते हैं जो चाहें तो एक वर्ष में तीन क्लासें पास कर सकते हैं, लेकिन शासकीय नियम के अनुसार उन्हें भी एक वर्ष में एक ही क्लास पास करनी होती है। ऐसे छात्र परीक्षा के कुछ समय पूर्व ही पढ़कर पास हो जाते हैं, लेकिन इनका अनुकरण करने वाले प्राय: असफल होते हुए देखे जाते हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि अधिकांश ऐसे छात्र देखे जाते हैं जिनमें एक वर्ष में एक क्लास पास करने की भी योग्यता नहीं होती या वर्ष भर पढ़ने पर भी बामुश्किल पास होते हैं।

यह कितनी बड़ी भूल है साधकों की कि सल्लेखना के अतिचारों का ध्यान/पालन उन्हें देह त्याग के समय रखना/करना चाहिए। भक्त भावना भाता है- हे भगवन !"देहान्त के समय में तुमको न भूल जाऊं" देहान्त शब्द कानों में आते ही दृष्टि वृद्धावस्था की ओर चली जाती है। जैसे 'मोक्ष' शब्द सुनते ही उपयोग लोकाग्र पर चला जाता है। देह का अंत किसी भी अवस्था में किसी क्षण हो सकता है यह बात दृष्टि से ओझल क्यों हो जाती है ? स्थूल देह का अंत सभी साधकों के ज्ञान का विषय नहीं है, लेकिन सूक्ष्म रूप से देह का अंत निर्मित होने के तत्काल बाद ही होना प्रारम्भ हो जाता है जो अल्पज्ञानियों के भी श्रद्धान का विषय है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आयु कर्म की एक देश निर्जरा सूक्ष्म रूप से देह का अन्त एवं पूर्ण रूप से निर्जरा स्थूल रूप से देह का अंत। स्थूल देह के अंत को ही अंत समझने वाले साधक स्थूल देह के अंत के समय को छोड़कर शेष समय में अतिचारों के त्याग पर लापरवाही बरतते रहने का परिणाम अंत में सातिचार सल्लेखना के रूप में भुगतते हैं जैसे की विद्यार्थी असफलता के रूप में। विद्यार्थी जीवन की उपरोक्त भूल इस समय वरदान सिद्ध होकर प्रेरक बन रही है कि वैसी भूल अब नहीं करना। वहाँ पास-फेल का निर्णय देने वाली परीक्षा का समय वर्ष में एक बार निश्चित है। लेकिन यहाँ निश्चित नहीं रहता। बीच-बीच में होने वाली परीक्षाओं का भले ही पास-फैल होने से संबंध न हो फिर भी सर्वथा निरर्थक नहीं है। वे सूचित कर देती हैं कि कौन विद्यार्थी उसमें

बैठने योग्य हैं और कौन नहीं। उसी प्रकार तुम अपना भी निर्णय कर लो कि तत्काल देह का अंत उपस्थित हो जाये तो तैयार हो या नहीं अन्यथा-

V सद्भावना - दुर्भावना काण्ड

63. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, पालतू नहीं तो फालतू हो जाते हैं श्वान।

'जैसी मति वैसी गति या जैसी गति वैसी मति' दूसरे शब्दों में मति के अनुसार गति होती है या गति के अनुसार मति होती है ? उत्तर-दोनों के अनुसार कार्य होते हैं। मरते समय में ही आयु कर्म बंधे तो मति के अनुसार गति होती है और आयु बंध के उपरांत गति के अनुसार मति हो जाती है। जैसे राजा श्रेणिक की प्रथम नरक गति के अनुसार कापोत लेश्या रूप मति हुई थी। प्रश्न उठता है कि जीवन के अन्त में ही सावधान रहने की सलाह क्यों देते हैं या रहने की क्यों सोचते है? क्योंकि आयु की स्थिति में मति के अनुसार घटना-बढ़ना सम्भव है या आयु कर्म का बंध भी उसी समय संभव है। हर किसी के आयु कर्म के बंध की अनिश्चित दशा में हर क्षण सावधानी की आवश्यक है अन्यथा-

एक व्यक्ति फोटो उतरवाने स्टूडियो पहुंचा। आधा एक घंटे तैयार होने में लगा दिया अर्थात् फोटो बिगड़ना नहीं चाहिए, सुन्दर/साफ आना चाहिए। उतारने वाले ने उसे जैसे ही सावधान करते हुए बटन दबाया कि उसी समय उसे उबासी/जवाई आ गई और जब धुल कर उसे दी गई तो कहने लगा- यह क्या किया आपने। मैंने इतना श्रम एवं समय बर्बाद किया और आपने फोटो बिगाड़ दी। उसने कहा- मेरी इसमें क्या गलती सावधान करते हुए भी आप को उबासी आ गई तो। आप अपनी गलती हम पर थोप रहे हैं। उसी प्रकार आयु कर्म के बंध के लिए आठ बार अवसर आते हैं। देव, गुरु, शास्त्र सावधान करते रहते हैं। इसके बाद भी जीवन भर सावधान रहने वाला व्यक्ति, पाप कर्म का तीव्र उदय आ जाये और अन्त समय में असावधान हो जाये, मायाचार आदि कषाय (उबासी) से परिणत हो जाये तो वह तिर्यन्च जैसी गति रूप विकृत रूप धारण कर ले और संयोग वश वहाँ पहुंच कर पूर्व दशा का स्मरण हो जाये एवं पापानुबंधी पाप का उदय हो तो सोचता है धर्म करना बिल्कुल व्यर्थ है अन्यथा मेरी यह दशा क्यों होती। गलत किया जो धर्म पर विश्वास किया। गुरु आदि को दोषी ठहराता है। पुण्यानुबंधी पाप का उदय हो तो अपने आप को ही दोषी ठहराता है कि मेरी ही असावधानी का ही यह परिणाम है। लोगों के सामने संयमी होने का

प्रदर्शन कर लुक-छिप कर काला मुंह करने वाले मायाचार के परिणाम स्वरूप पालतू नहीं फालतू कुत्ते अवश्य हो जाते हैं, लेकिन जो जीवन भर संयम का निर्दोष पालन करते हुए मरते समय आयु बंध के समय मायायार करते हैं वे फालतू नहीं तो पालतू कुत्ते अवश्य हो जाते हैं और अधिकांश मनुष्यों से भी अच्छी जिंदगी जी लेते हैं। इतना अवश्य होता है ऐसे लोग उस पर्याय से शीघ्र छुटकारा पा लेते हैं, मेंढक की तरह।

सारा जीवन सप्त व्यसनों में गुजार देने वाले अंजन चोर की तरह सद्गति पाने के लिए कहने वालो की संख्या हमेशा से अधिक ही रही है, भले ही उसका अनुकरण करें या न करें। न के बराबर लोग होते होंगे जो अंजन चोर जैसी गति को प्राप्त होते हों 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के अनुसार जो दीर्घ संसारी हैं वे अंजन चोर जैसे लोगों को आदर्श बनाकर उनका अनुकरण कर लेते हैं। पीछे कहा था- अर्थ सहित कंठस्थ करने में और मात्र कंठस्थ करने में बहुत अंतर होता है। अंजन चोर का इतिहास जान लेना एक अलग बात है, सहज बात है, लेकिन कर्म सिद्धान्त के आधार पर जानना और उसके साथ अपनी तुलना करना अलग बात है, कठिन बात है। क्या तुम्हें विश्वास है कि अंजन चोर जैसा पुण्य इच्छित समय में उदय में आकार तुम्हारी सद्गति की प्राप्ति में निमित्त बन जायेगा अन्यथा रावण जैसी गति भी प्राप्त हो सकती है।

शक्ति के अभाव में भले अनशनादि तप नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन भाव निरंतर वैसा करने के होते रहते हैं इस आधार पर कहा जा सकता है कि आयु का बंध नहीं हुआ है या तीन आयु का बंध नहीं हुआ है जो चारित्र लेने, पालन करने में बाधक हैं। मध्य में होने वाली परीक्षाओं में अभी संतोषजनक सफलता नहीं मिल रही है अंत भाग्य पर निर्भर है। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी होते हैं जो मध्य परीक्षाओं में असफल होकर अंत में सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

64. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, कर्तव्य विमुखता में दोस्त, दुश्मन बनना आसान।

भक्त भगवान से प्रार्थना करता है - "शत्रु अगर कोई हो संतुष्ट उसको कर दूं समता का भाव रखकर सबसे क्षमा कराऊं।" क्षमा धर्म एवं क्षमावाणी पर्व वर्ष में एक एक दिन ही आया करते हैं। क्षमा धर्म पर जब कोई क्रोध करता है, तब लोगों के मुख से सुना गया है कि क्षमा धर्म के दिन क्रोध नहीं करना चाहिए। जब कोई क्षमा वाणी के दिन भी क्षमा नहीं मांगता या करता तब भी कहते हुए सुने गये हैं कि आज ही के दिन क्षमा नहीं मांगोगे तब कब मांगोगे। इस प्रकार की मान्यताओं से यह सिद्ध होता है कि तीन सौ चौंसठ

(364) दिन यदि आपस में लड़ाई-झगड़ा न हों तो क्षमापर्व या क्षमावाणी पर्व का महत्व ही क्या है। इनके विचारों से 'क्षमा' यह स्वभाव (धर्म)) समय विशेष से बंध चुका है।

परिणामों की प्रतिक्षण की निर्मलता (विशुद्धता) में स्वयं के भाग्य एवं पुरुषार्थ के साथ उसके प्रति प्राणी मात्र की सद्भावनाएं अनिवार्य निमित्त कारण है। यह तो निश्चित है कि मतभेद एवं मनभेद के रहते कोई भी साधक प्राणी मात्र को अपने अनुकूल नहीं बना सकता भले ही तीर्थंकर ही क्यों न हों। इतना अवश्य है कि जिनका आत्म बल के साथ शरीर बल भी सशक्त होता है, उनकी निर्मलता में दूसरों की असद् भावनाएं प्रभावी नहीं हो सकतीं, नहीं होती। लेकिन जहाँ दोनों बलों से हीनता होती है उन्हें विधर्मियों के साथ तो नहीं, किन्तु जिनके बीच सारा जीवन गुजारना होता है ऐसे सहधर्मी उनके साथ ऐसा कोई व्यवहार नहीं होना चाहिए जिससे वे साधु के प्रति दुर्भावना से ग्रस्त हो जायें। विचारणीय हो जाता है कि साधुओं के मन में भी बदले की भावना आ जाती है क्या और आती है तो किस रूप में ? जिसके प्रति बदले की भावना आती वह तो शत्रु हुआ उसके लिए? इसका समाधान आगे इसी विषय के उल्लेख से स्वतः हो जायेगा। साधु के द्वारा किए गये अनुचित व्यवहार से कोई दुर्भावना ग्रस्त हो जाये तब जो साधु हर क्षण अतिचारों के पालन पर लापरवाही बरतता है वह क्षमावाणी के दिन की तरह वृद्धावस्था के देहाँत के समय की प्रतीक्षा करेगा, क्योंकि क्षमा मांगने और क्षमा करने के लिए उसी समय कहा गया है। वर्ष में एक दिन क्षमा मांगने एवं करने जैसी मूढ़ता से गृहस्थ तो लिप्त हैं ही साधु भी अछूते नहीं हैं। साक्षात् तो नहीं, लेकिन लौकिक एवं धार्मिक समाचार पत्र पत्रिका में फोटो के रूप में अपारजन समुदाय के सामने साधुओं को सरागियों की तरह आपस में गले मिलकर एक दूसरे से क्षमा मांगते, करते हुए देखा सुना गया है। इस मूढ़ कृत्य की लोगों ने आलोचना नहीं आसूं बहाते हुए प्रशंसा की है। इस मूढ़ परंपरा को डालने का श्रेय ये लूटेंगे। हम जैसे साधुओं के द्वारा उपरोक्त नाटक पर प्रतिबंध लगाना तो बिल्ली के गले में घंटी. बांधने जैसा है।

साधुओं का कर्तव्य मात्र उपदेश तक ही सीमित हो और गृहस्थों का कर्तव्य सेवा तक सीमित हो तो अकारण एक दूसरे के प्रति दुर्भावना होना सम्भव नहीं है। अब कर्म का ही तीव्र उदय आ जाये तो एक अलग बात है अर्थात् अकारण भी हो जाते हैं। कर्तव्य के उल्लंघन का परिणाम इस समय देखा ही जा रहा है। अपने अपने स्वार्थ से ऐसे जुड़ चुके हैं कि कुछ पूछो ही मत। जहाँ एक दूसरे से स्वार्थ सिद्धि में बाधा आती है तो एक दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं। कभी साधुओं के अनधिकृत से अधिकांश दोस्त बनते हैं, कुछ दुश्मन बन जाते हैं, और कभी कुछ दोस्त तो अधिकांश दुश्मन बन जाते हैं।

एक गांव में कतिपय कर्णधारों ने खुशखबरी सुनाई- अमुक साधु अकेले एक दिन में एक ऐसा कार्य कर गये जिसे मिलकर सारा समाज वर्षो से नहीं कर पा रही थी। कुछ किरायेदार मंदिर की जगह धर्मशाला में वर्षों से रह रहे थे। न समयानुसार किराया देते थे और न खाली ही करते थे। महाराज ने अनशन पर बैठकर एक ही दिन में खाली करा लिया। इसके पहले साधु आते थे और स्थान के अभाव में चले जाते थे, लेकिन अब रुकते हैं। हमने कहा- आपने अपना कार्य साधु के कंधे पर बंदूक रखकर करवा लिया/निकाल लिया, जो आपके ही द्वारा किया जाना चाहिए था। किरायेदारों की दुर्भावना उस साधु के प्रति बन गई उसे जीवन भर सद्भावना में बदला जा सकेगा कभी ? उनकी इस दुर्भावना का प्रभाव साधु के ऊपर क्या पड़ रहा है इसकी चिन्ता न स्वयं साधुओं को है न आप लोगों को, क्योंकि वे हर क्षण मरण को मरण एवं समाधि को समाधि मान कहाँ रहे हैं। इसे भी तो दुर्भावना का प्रभाव कहना चाहिए। साधु निर्जनता को छोड़ जनता के बीच में रह रहे हैं और कभी किसी की दुर्भावना का शिकार न हो ऐसा उपाय समझ में नहीं आ रहा है।

65. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, अकारण दुर्भावना पुण्यानुबंधी पापात्मा की पहचान।

ज्ञानी की दुर्भावना का शिकार होने में और अज्ञानी की दुर्भावना का शिकार होने में अन्तर है। उसी प्रकार समीचीन और असमीचीन बदले की भावना में भी अन्तर है। सर्वथा पद विरुद्ध कार्य कर रहे साधु के प्रति किसी ज्ञानी का दुर्भावना ग्रस्त हो जाने में साधु ही अपराधी है। विधर्मियों के धर्म के नाम पर धर्म एवं लोक के विरुद्ध कार्यों का अंधानुकरण कर रहे अज्ञानियों के कार्यो पर प्रतिबंध लगाने वाले साधुओं के प्रति उनका दुर्भावना ग्रस्त हो जाने में अज्ञानी लोग अपराधी है साधु नहीं। ऐसी स्थिति में साधुओं को पुण्यानुबंधी पाप का उदय समझना चाहिए। मेरे व्यक्तिगत विचार से ऐसा कहना उचित ही है कि दुर्भावना का शिकार रहते विशुद्ध आचरण करने की इच्छा एवं शक्ति के रहते हुए भी कर नहीं पाता।

हम स्वयं ही ऐसे लोगों की दुर्भावना के शिकार हो चुके हैं लिखकर एवं बोलकर भी। क्षेत्र के विकास के लिय कमेटी के कुछ लोगों ने येन-केन-प्रकारेण कमेटी के अन्य सदस्यों से स्वीकृति लेकर लाटरी (जुआ) चालू की थी। जगह जगह की जागरुक समाज ने इन्हें हतोत्साहित कर दिया असहयोग एवं लताड़ देकर। इन्होंने अजैनों में टिकिट बेचना प्रारम्भ कर दिया जिस पर प्रतिबंध लगा कर सदस्यों ने स्वीकृति दी थी। जगह-जगह पहुंच कर हमसे आग्रह किया जा रहा था क्षेत्र पर पधारने का। हम नहीं चाहते थे कि इस दुष्कृत्य पर प्रतिबंध लगाने में मैं निमित्त बनकर लोगों की दुर्भावना का शिकार बनूँ, लेकिन कुछ

ऐसी परिस्थितियाँ बनी कि जो नहीं चाहता था वही हुआ। सैकड़ों लोग हमारे प्रति दुर्भावना ग्रस्त हो गये। अब विचारणीय हो जाता है कि उपरोक्त लोगों की दुर्भावना सद्भावना में बदल जाये इसके लिये क्या साधु उनसे क्षमा मांगे ? यदि मांगते हैं तो अपराधी अपने आप को निरपराधी और क्षमा मांगने वालों को अपराधी समझ लें इसमें आश्चर्य नहीं है जो अपनी स्वार्थ सिद्धि में बाधक साधुओं के प्रति दुर्वचनों का प्रयोग करते हुए नहीं चूक रहा हो, तब। उन्हें या किसी दूसरे को अपराध करने के लिए प्रोत्साहन न मिले अत: प्रत्यक्ष रूप से क्षमा न मांगे तब उन्हें संतुष्ट किस उपाय से किया जाये। 'यहाँ कुआं यहाँ खाई' के अनुसार एक विचारणीय समस्या है। प्रत्यक्ष रूप से यह कहते हुए क्षमा मांगी जा सकती है कि जिस पर प्रतिबंध लगाया गया है वह है तो गलत कार्य, लेकिन साधु पद पर रहते हुए परमार्थ दृष्टि से प्रतिबंध लगाने का अधिकार हमें नहीं है। फिर भी मर्माघात हुआ हो तो क्षमा प्रार्थी हैं अपराध की पुनरावृत्ति न हो इस भावना से। यह कार्य व्यक्तिगत रूप से किया जाये या जनसमुदाय के बीच में ? कैसा भी हो, तब क्या साधु उन्हें अपने पास बुलायें या स्वयं उनके पास उनके घर जाये। यह बात इसलिए रखी/कही जा रही है कि साधु की स्वयं की एक मर्यादा होती है। लोक व्यवहार का ध्यान रखते हुए उनके अनुसार चला जाये तो परमार्थ की उपेक्षा होती है अर्थात् उसके अनुसार चलने में बाधा आती है और परमार्थ का पक्ष लेते हुए उसके अनुसार चले तो व्यवहार के अनुसार चलने में बाधा आती है। लोक व्यवहार कहता है उचित तो यही है कि क्षमा मांगने वाला ही उसके पास पहुंचे, लेकिन परमार्थ कहता है यह साधु पद के अनुकूल नहीं है। उपरोक्त घटना का अपराधी कभी सामने नहीं आया, तब क्या आशा की जा सकती है कि वह बुलवाने पर भी सामने आयेगा। तब लोक व्यवहार एवं परमार्थ का ध्यान रखते हुए साधुओं को चाहिए कि प्रवचन आदि के माध्यम से उपस्थित जन समुदाय के सामने सामान्य रूप से क्षमा याचना कर ले यह एक निर्दोष उपाय है सभी को संतुष्ट करने का।

66. क्या समाधि धर्म महान ? नहीं, ले न सके बदला करता निदान।

कुन्द कुन्द स्वामी ने, वनवास छोड़ गांव, शहर में रहने वाले साधु का श्रावकों से अति परिचय न हो इसलिए समय की सीमा बांध दी है कि कितने समय कहाँ रहे। एक ही स्थान पर चार माह तक निरंतर रहने पर अपरिचित लोगों से भी परिचित होने में कोई आश्चर्य नहीं है और चला कर परिचय पाने की जिज्ञासा हो तो क्या कहना। उस समय यह बात उस साधु के दिमाक में नहीं आ पाती कि दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण काल में चलाकर प्राप्त किया जा रहा दूसरों का अति परिचय आत्म संस्कार एवं समाधि के काल में समाधि में बाधक तो नहीं होगा। प्रतिक्षण होने वाली समाधि में बाधक है ही। बहुत समय तक रहने

पर साधुओं को भी संतोष नहीं होता कि अलग से क्षमा क्या मांगना जब चौबीस घंटे में तीन बार मांगते ही हैं। यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा रहा है कि अधिक से अधिक परिचय हम पचा नहीं पा रहे हैं, क्योंकि नित्य नये ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं जो अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों को लिए हुए होते हैं। हर एक प्रतिकूल परिस्थिति बदले की भावना में निमित्त बन जाती है। अधिकांश प्रतिकूलताओं की पुनरावृत्ति होते रहने से बदले की भावना को बल मिलता रहता है भले ही जिस-किसी रूप से बदला लेने की सोचता हूँ उस रूप में बदला लेने की भावना में परिवर्तन हो जाये, लेकिन तत्काल तो बदले की भावना से ग्रसित हो ही जाता हूँ। ध्यान आने पर पश्चाताप भी कर लेता हूँ। हमारे अनुकूल चलने वालों के प्रति भी बदले की भावना होती है, भले ही सद्भावना रूप हो अर्थात् नीचा दिखाने की न हो। लेकिन 'बदला लेना' यह क्रिया किसी को नीचा दिखाने, अपमानित करने या किसी भी रूप में हानि पहुंचाने के रूप में प्रचलित है। अत: सम्मानित करने, करवाने या लाभ पहुंचाने के रूप में उसका प्रयोग नहीं किया जाता।

आहारादि से लेकर जितनी जो भी साधु सेवाएं हैं, वे प्राय: ऐसे सेवकों पर निर्भर हैं जो एक हाथ से देकर तत्काल दूसरे हाथ से लेने की तीव्र इच्छा रखते हैं, तब साधु इससे अछूता कैसे रह सकता है। तत्काल लेना नहीं तो देना तो चाहता ही है, क्योंकि सेवक की सेवा स्वीकार कर लेने के बाद अपने को कर्जदार समझता है जब तक उसे उपदेश आदि के रूप में चुका न दे। चुका न पाये तो सोचता है भक्त क्या सोचेंगे कि यह साधु कुछ जानता नहीं या अपना कर्तव्य नहीं समझता। भले ही सेवक समझें या न समझें, क्योंकि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सेवा से मतलब रखते धर्म उपदेश से नहीं, कुछ प्रवचन से ही मतलब रखते हैं सेवा से नहीं, कुछ ही होंगे जो दोनों से संबंध रखते हो एवं अधिकांश ऐसे भी हैं जिन्हें दोनों से ही प्रयोजन नहीं है। अपना कर्तव्य समझ कर उपदेश देने वाले साधु सेवक की समझ से कोई प्रयोजन नहीं रखते, क्योंकि प्रत्युपकार की भावना से सेवा स्वीकार नहीं करते अर्थात् में इनसे उपकृत हुआ हूँ यह सोचकर उपकार का बदला उपदेश के रूप में नहीं चुकाते। अभी-अभी एक महानुभाव कह रहे थे प्रवचन सुनकर कि कायदे से पिछले वर्ष का चातुर्मास तो यहीं होना चाहिए था। उनके अभिप्राय से यह समझना अनुचित नहीं होगा कि प्रवचन उनके मन पसंद नहीं होता तो चातुर्मास तो दूर अन्य समय में भी रोकने की आवश्यकता नहीं थी। विचारणीय है कि उपदेश से ही प्रयोजन रखने वाले या उपदेश के बदले में सेवा की सार्थकता समझने वाले प्राय: जगह-जगह मिल जाते हैं, तब कर्तव्य समझ कर चलने वाले साधुओं को भी अन्यथा सोचने की लिए बाध्य होना पड़ रहा है कि जिन्हें साधुओं के जीन मरने की चिन्ता नहीं अर्थात् साधु सेवा के प्रति लापरवाह हैं और जिन्हें चिन्ता है जीने-मरने की वे उपदेश सुनने के प्रति लापरवाह हैं। साधुओं की

इस प्रकार की संकीर्ण बिचार धारा को सुनकर कितना आश्चर्य होगा। आश्चर्य की बात भी है, क्योंकि यह विचार धारा साधुता से परे है, लेकिन सेवकों का साधुओं के साथ होने वाला क्षुद्र व्यवहार ही नहीं चाहते हुए उपरोक्त विचारधारा का कारण है। प्रतिक्षण होने वाली समाधि में बाधक इस विचारधारा को साधु आत्म संस्कार एवं सल्लेखना के काल में, निकाल सकेंगे ? नहीं।

सारांश यही है कि साधु जीवन में अनेक प्रसंग ऐसे ही उपस्थित होते रहते हैं जो बदले की भावना को जन्म दिया करते हैं। कुछ के बिना चल नहीं सकता और कुछ अनावश्यक ही हैं। तत्काल प्रतिकार करने का अवसर या सामर्थ्य न हो तो निरंतर बदले की भावना से अवसर की तलाश में रहेगा, बिल्ली आदि शिकारी जानवरों की तरह। कोई विशेष धार्मिक आयोजन हो रहा हो और किसी साधु को आमंत्रित न किया जाये तो वह अपना अपमान समझकर किसी न किसी रूप में बदले की भावना से भर जाता है। उग्रसेन से एवं श्रेणिक से बदला लेने वाले कंस एवं कुणिक के जीव की तरह। तत्काल प्रतिकार की सामर्थ्य न होने पर एवं भाग्य पर विश्वास न रखने वाला यह साधु उन्हीं की तरह भव-भव में दुखदायी निदान बंध कर बैठता है। सेवक भी तो वैसा ही कर बैठता है यदि साधु उसके अनुकूल नहीं चला तो। अशुभ लेश्या रूप होने से बदले की भावना बाल बाल या बालमरण को सूचित करती है। निरंतर पंडित मरण करने वाले साधु को उपरोक्त भावना द्रव्यलिंग को सूचित करती है।

67. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, पर अपेक्षा के बिना करते क्षमा प्रदान।

वैसे तो साधुओं की दिनचर्या में तीन बार ऐसे अवसर आते हैं जब वे सभी जीवों को क्षमा मांगे बिना ही क्षमा करते हैं और उनके क्षमा किये बिना ही क्षमा मांग लेते हैं। फिर भी चातुर्मास के अन्त में समापन के बाद जब स्थानीय लोगों से अपनी जाने अनजाने की भूलों की क्षमा मांगते हैं तब लोगों को लज्जानुभूति के साथ-साथ काफी कष्ट होता है। उदासी के साथ-साथ आँसु बहाने से ज्ञात हो जाता है। इस प्रसंग में भी विचारणीय है कि जब प्रतिदिन अर्थात् दिन-रात में तीन बार क्षमा कर एवं मांग ली जाती है फिर अलग से मांगने एवं करने की क्या आवश्यकता है ? क्षमा आत्मा का धर्म है और वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् करते समय मांगने की अपेक्षा नहीं रखता और न मांगने वाला करने वाले की अपेक्षा रखता है कि करेगा तभी मैं क्षमा मागूंगा। यदि अपेक्षा रखी जाये तो

यह संज्ञी तक ही सीमित रह जायेगी। जिनसें बोलने की सामर्थ्य नहीं है ऐसे संज्ञी भी न बोलकर क्षमा मांग सकते हैं और न बोलकर ही कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में सभी जीवों से क्षमा मांगने एवं करने का आगमोल्लेख अन्यथा हो जायेगा। वर्तमान में ही नहीं कभी भी ऐसे सभी साधक सहनशील नहीं होते जो क्षमा मांगे एवं करने की अपेक्षा रखे बिना मांग एवं कर देते हैं। अत: उन्हें तो आवश्यकता होती ही है अपेक्षा की जो अपेक्षा के बिना बदले की भावना को छोड़ नहीं सकते। साथ ही उन्हें भी मांगने एवं करने जैसी औपचारिकता दिखानी होती है उनके सामने जो अपेक्षा के बिना पूर्व स्थिति में नहीं आ सकते। क्षमा मांगने एवं करने में अंतर तो है ही। अब प्रश्न होता है कि मांगना विशेष महत्व रखती है या करना। अथवा मांगना कठिन है या करना ? लोक व्यवहार कहता है- छोटों का बड़ों से क्षमा मांग लेना सहज है बड़ों को छोटों से मांगने की अपेक्षा। इसी व्यवहार के कारण क्षमा करने की अपेक्षा मांगना विशेष महत्व रखता है। क्योंकि मांगना लघुता है अपराध स्वीकारना है। दूसरी बात एक और भी है कि निरपराधी होते हुए भी अनिष्ट होने की सम्भावना से क्षमा मांग ली जाती है। परमार्थ दृष्टि से विचार किया जाये तो करना कठिन है/महत्वपूर्ण है मांगने की अपेक्षा। कैसे ? मांगने वाला करने वाले की इतनी बड़ी क्षति कर गया हो जिसकी पूर्ति होना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो, इस जीवन में। इसके बाद भी क्षमा कर दे। ऐसी स्थिति में महत्व करने का ही होगा। जो दूसरे से क्षमा मांगे बिना करने की सामर्थ्य नहीं रखते इस अपेक्षा से मांगना महत्वपूर्ण है। तद्भव मोक्षगामी बाहुबली को कहाँ हो पा रहा था भरतजी के क्षमा मांगे बिना केवलज्ञान। उन्हें उन्हीं की मान कषाय पंडित-पण्डित समाधि मरण में बाधक बन रही थी कि मैं चक्री की भूमि पर खड़ा हूँ। भरत चक्रवर्ती को वस्तुस्थिति का जब ज्ञान हुआ तो जाकर चरणों में निवेदन किया- ''धीर धरा धर पे धरा धरा दिगम्बर भेष, नहीं धरा पे कुछ धरा धरा अशेष क्लेश।'' सुनते ही देर नहीं लगी लक्ष्य की प्राप्ति होने में।

II आशीर्वाद काण्ड

साधुओं की दिनचर्या में सबसे अधिक अवसर आता है आशीर्वाद देने का। आशीर्वाद देने में दस-पाँच वर्ष में इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसका कोई भी हाथ आशीर्वाद के लिये बुद्धिपूर्वक तो उठता ही है अबुद्धिपूर्वक भी उठ जाता है। बहुत कम ही भक्त होंगे नमस्कार करने वाले जो हाथ के आशीर्वाद की इच्छा न रखते हों। व्यग्रता, व्यस्तता के कारण हाथ न उठ पाये तो बार-बार नमोस्तु कहकर आशीर्वाद देने के लिये उनका ध्यान आकर्षित करेंगे। कुछ तो कह ही देते हैं - महाराज नाराज है या पक्षपात करते हैं आशीर्वाद देने में। साधुओं को आक्षेप से बचने के लिये, नहीं चाहते हुए भी आशीर्वाद रूप मनोरंजन में भाग लेना होता है

अन्यथा साधु की मध्यस्थता का, कुछ भी सोच कर अहित कर सकता है। जैसे कृष्ण जी के राज्य वेद्य साधु की माध्यस्थता के कारण वैद्य से बंदर हो गये थे। साधु के प्रति दुर्भावना ग्रस्त होने के कारण उनकी विशुद्धि में कमी हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि आशीर्वाद देने में ही अटक गया अर्थात् उसी को उपादेय मान लिया तो हर क्षण की समाधि में बाधक तो है ही अंत समाधि में भी बाधक होगा।

68 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, भय आदि से देना, लेना मोल-भाव दुकान।

अधिकांश साधु-सेवकों को हाथ का आशीर्वाद देने-लेने में संतोष नहीं होता, अत: पिच्छी सहित आशीर्वाद देने-लेने को ही सार्थक समझते हैं। पिच्छी रखने की सार्थकता में पिच्छी सहित आशीर्वाद देना शामिल नहीं है। कुछ भक्त हठ करते हैं पिच्छी सहित आशीर्वाद देने-लेने के लिये। उन्हें समझाया जाता है- पिच्छी संयम का साधन है आशीर्वाद देने का नहीं। दूसरी बात आशीर्वाद देने-लेने में चेतन सहित हाथ का महत्त्व है जड़ पिच्छी का नहीं। जिस प्रकार इस समय क्रय-विक्रय में मोल-भाव करना ग्राहक एवं दुकानदार की आदत में आ चुका है उसी प्रकार हाथ उठाकर आशीर्वाद देना-लेना साधु-सेवक की आदत में आ चुका है।

कुछ ग्राहक ऐसे भी होते हैं जो मोल-भाव करते ही नहीं। इनमें कुछ तो समझदार होते हैं और कुछ ना समझ। इन्हीं में कुछ आपसी वाले भी होते हैं और कुछ गैर आपसी वाले भी होते हैं। जिनका लक्ष्य मोलभाव करके अधिक से अधिक कमाने का होता है उन्हें नासमझ लोगों से तो मन माना मिल ही जाता है आपसी वालों से भी उतना ही खींच लेते हैं, क्योंकि आपसी वाले आपसी में कुछ कहते नहीं। सावधानी तो समझदार गैर आपसी वालों से बरतनी होती है, नहीं चाहते हुए भी। कुछ ही ऐसे दुकानदार होते हैं जिन्हें न चाहते हुए भी मोलभाव करते हुए बेचना होता है। जिन्हें नासमझ एवं समझदार लोगों के साथ धर्म संकट की स्थिति बनती है विक्रय के समय। मोलभाव करके क्रय करने को उचित समझने वालों को दुकानदार दस-पाँच अधिक लेकर दे तो लेने वाला खुशी से ले लेता है बिना मोलभाव के दस-पाँच कम में देने वाले दुकानदारों की अपेक्षा। वह यह नहीं सोचता कि यहाँ वहाँ से दस-पाँच अधिक लग गये, अपितु सोचता है कि वहाँ का माल घटिया होगा अन्यथा कम में क्यों देता अर्थात् हर तरह से ठगाये जाने वाला भी अपने आपको निर्दोष मान लेता है। उसका वैसा मान लेना सर्वथा अनुचित भी नहीं हैं, क्योंकि घटिया सस्ता मिल भी रहा है। यह बात तो निश्चित ही समझ लेना चाहिये कि मोलभाव में

ग्राहक ही ठगाया जाता है दुकानदार नहीं। जहाँ पेट भरने का ही लक्ष्य होता है वहाँ मोलभाव से क्रय-विक्रय नहीं होता। वही होता है जिसमें दोनों को संतोष होता है।

नमस्कार करने वालों का साधुओं के प्रति सच्चा श्रद्धान/बहुमान होना नमस्कार है और साधु की, नमस्कार करने वालों के प्रति कल्याण की भावना होना ही आशीर्वाद है। शेष जो वचन और क्रिया रूप है वह दोनों की भावना का प्रतीक है, लेकिन भावना दिखने में नहीं आती अत: गौण है। प्रतीक दिखने में आते हैं इसलिये मुख्य हैं।

यह कोई जरुरी नहीं है हर कोई व्यक्ति जिस किसी को नमस्कार श्रद्धा से ही करता हो, क्योंकि भय, आशा, स्नेह, लोभ से भी करते हुए देखे जाते हैं, आशीर्वाद के लिये उठा हुआ हाथ भी आत्मकल्याण की भावना से ही उठा हो यह कोई जरुरी नहीं है। किन्हीं भक्तों को आशीर्वाद देना अभिशाप होता है तो किन्हीं के लिये वरदान और किन्हीं के लिये आशीर्वाद न देना अभिशाप होता है तो किन्ही के लिये वरदान। जहाँ जब परस्पर में स्वार्थमय संबंध हों तो उपरोक्त भयादि में से कोई एक कारण अवश्य होगा आशीर्वाद देने का। समीचीन श्रद्धा या आचरणहीन कोई भी व्यक्ति नमस्कार करता है भयादि किसी कारण से, तब उसके प्रतिकल्याण की भावना होते हुए भी 'कर' से भी आशीर्वाद का पात्र है या नहीं ? पूछा इसलिये जा रहा है कि साधु का हाथ भेदभाव किये बिना ही सहज उठ जाता है। अपराधी या उद्दण्ड शिष्य के प्रति कल्याण की भावना होते हुए भी आशीर्वाद देना बंद कर दिया जाता है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो अपने अपराध पर गौर नहीं करेगा, न पश्चाताप करेगा, न छोड़ने का प्रयास करेगा, अपितु वही अपराध करने में चूक नहीं करेगा। दूसरे शिष्य भी उसका अनुकरण करेंगे। ठीक यही स्थिति समीचीन श्रद्धाहीन (विधर्मी) एवं आचरणहीन (सहधर्मी/विधर्मी) की होगी अर्थात् आशीर्वाद पाकर उसी में और दृढ़ हो जायेगा।

प्रश्न उठता है - आशीर्वाद न देते समय शिष्य से भय कैसा ? नमस्कार करना न छोड़ दे, संघ न छोड़ दे। आशा कैसी ? प्रभावक है गुरु का नाम रोशन करेगा। स्नेह कैसा ? शिष्य होने के नाते। लोभ कैसा ? शिष्य संख्या कैसे बढ़ेगी कठोर दण्ड दिया तो।

69 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, पाप नहीं पैसों का त्याग कर पाते हैं, ये धनवान।

गृहस्थ तो आये दिन मांगते ही रहते हैं अपने और अपनों के लिये कि महाराज ! हमे या इन्हें अच्छा-सा-आशीर्वाद देना ताकि कृत्य-कृत्य हो जायें। इनकी मांग को देखते

हुए कौन नहीं समझेगा कि साधु घटिया आशीर्वाद भी देते हैं। अन्यथा आशीर्वाद में 'अच्छा' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी। क्या करें बेचारे, देखा होगा किसी को बढ़ियाँ और किसी को घटिया आशीर्वाद देते हुए। दोनों पार्टियों के नेता जीत का आशीर्वाद लेने आते हैं। इनकी सफलता एवं असफलता के आधार पर घटिया-बढ़ियाँ आशीर्वाद का अनुमान लगा लिया जाता है। लौकिक कार्यो की सफलता के लिये दिये जाने वाले आशीर्वाद की सफलता पर हर्ष/गौरव का अनुभव एवं असफलता पर विषाद/लघुता का अनुभव स्वादुता की निशानी है साधुता की नहीं। एक तो उपरोक्त कार्यो के लिये आशीर्वाद देना ही अपराध है। उस पर भी हर्ष-विषाद अपराध के ऊपर अपराध हैं। एक शिक्षक कह रहे थे - महाराज। शिक्षक पद के लिये लड़के का फार्म भर दें ? हमने कहा-प्रयास तो करना चाहिये। कहने लगे - आपका आशीर्वाद मिल जाये। हमने कहा- प्रयास मुख्य है आशीर्वाद गौण। हम समझते हैं - इस प्रकार के व्यवहार में असफल, सफलता पर साधु हमेशा माध्यस्थ ही रहेगा।

इस समय साधुओं की दृष्टि में भी पापों के त्याग का एवं व्रतों के ग्रहण का इतना महत्व नहीं है जितना की पैसों के त्याग का। एक व्यक्ति ने आप बीती सुनाई - एक आचार्य से मैंने ब्रह्मचर्य व्रत के साथ परिग्रह परिमाण व्रत भी ले लिया। आचार्य जी का आशीर्वाद मिला। वहीं पर रात्रि में मेरे मन में भाव आया कि अतिरिक्त सम्पत्ति का यहाँ दान क्यों न दे दूँ। हालाकि मैं बाद में पछताया था कि ''जग को दे दीं जग की निधियाँ'' के सामने मैंने अपनी तुच्छ-सी-उदारता का परिचय क्यों दिया। वह उदारता यदि प्रदर्शन की दृष्टि से अभिशाप हुई लेकिन कभी साधु बनने के भाव हुए तो उसके लिये वरदान होगी। एक लाख रूपये के दान की घोषणा से प्रशंसकों की प्रशंसा ने तो भिगोया हो आचार्य श्री की उदारता मानों खुलकर आशीर्वाद के रूप में बरसने लगी। प्रशंसा एवं आशीर्वाद रूपी बाढ़ में मुझे तैरकर बच निकलना मुश्किल हो गया। व्यवस्थापकों को आदेश देकर पहले तो पूरी व्यवस्था करवा दी। साथ ही मेरा परिचय लेकर उन्हें सुना दिया। परिचय की विशेषता यह रही कि पूछा नहीं कैसे कमाया धन। लेकिन व्रतों को ग्रहण से पूर्व एवं पश्चात् भी किसी को पूछने की आवश्यकता नहीं थी कि तुम्हें कहीं सिर छिपाने के लिये ठिकाना मिला कि नहीं। हमने कहा - तुम्हारी ही तरह एक विद्वान अपनी वेदना को बड़े ही दुःखी मन से सुना रहे थे - *उपरोक्त आचार्य के साथ तत्त्व चर्चा चल रही थी।* इसी बीच तीन लाख का आशीर्वाद लेने एक दाता आ गया। चर्चा को तत्काल विराम दे *दिया। तत्त्व चर्चा निरर्थक है अर्थ के सामने। तत्काल सूखा पड़ गया उसके प्रति जिसके* प्रति उस समय तक श्रद्धा से रोम-रोम भीगा हुआ था। जिसके मुखारबिंद से यही सुना गया

कि मैंने आत्मकल्याण तो बहुत कर लिया अब पर कल्याण करना है। यह तो उल्टी गंगा बहाना हुआ। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे दुकानदार ने आपसी में लूट लिया हो जब उपरोक्त दाता को अतिनिकट के महमानों की तरह व्यवस्था कराने में व्यस्त होते हुए देखा। अन्य विद्वानों की तरह मैं भी विद्वान होने के नाते अपने को उनके काफी निकट मानता था उसके स्नेह के कारण।

धन के पुजारी धनवानों से निरंतर घिरे रहने वाले आचार्य से एक लेखक विद्वान दो-पाँच मिनिट भी चर्चा नहीं कर पाते थे। एक दिन उन्होंने भरी सभा में खीज निकाली कि धनवान अपनी थैली का मुँह बंद रखे यहाँ कोई बिकाऊ नहीं है। इन धनवालों के साथ आचार्य के भी कोप का भाजन बनना पड़ा जो कभी निरंतर विद्वानों से ही घिरे रहते थे। वस्तुत: आशीर्वाद स्वयं में अमोल है फिर उसके मोलभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। उस का संबंध मात्र श्रद्धा से है। पहुँच हुए साधुओं के द्वारा भय, आशा, स्नेह, लोभ के वशीभूत हो दिया गया आशीर्वाद ऊंची दुकान फीके पकवान की तरह है और लेने वाले भयादि के वशीभृत हो कर ले रहे हों तो वे मोलभाव कर अच्छी तरह ठगाय जाने वाले ग्राहकों के समान हैं। जिन्हें आत्मकल्याण की भावना से ही आशीर्वाद देने वाले साधुओं के आशीर्वाद की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे पहुँचे हुए नहीं है। भले फीकी दुकान और ऊंचे पकवान क्यों न हों।

70 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, भावना गौण 'कर' आशीष प्रधान।

एक गाँव में काफी मजेदार प्रसंग बना। नमस्कार करने वालों की अधिकता से किसी को आशीर्वाद का हाथ उठ नहीं पाता था और किसी को उठ भी जाता था। एक भक्त कहने लगा - आप पक्षपात क्यों करते हैं, आशीर्वाद देने में। हमने कहा - आशीर्वाद देने की जिम्मेदारी तुम ले लो। कभी-कभी वैसा ही करने लगा। जब हम आहार के लिये निकलते थे वह आशीर्वाद देता जाता था नमस्कार करने वालों को। एक वहन ने उसे वैसा करते हुए देख लिया। कहने लगी- भग तोरो आशीर्वाद नइं चाहने हमें। उसने कहा - वहन ! तुम्हारे कल्याण की भावना हम नहीं कर सकते क्या? कहने लगी- क्यों नहीं कर सकते। कहने लगा - यह उठा हुआ हाथ उसी भावना का प्रतीक है। एक दूसरे को एक दूसरे के कल्याण करने की भावना करने का अधिकार हर किसी को होते हुए भी आम लोगों की धारणा यही है कि 'कर' से या 'मुख' से आशीर्वाद देने का अधिकार लौकिक दृष्टि से वयोवृद्धों को एवं धार्मिक दृष्टि से ज्ञान वृद्धों को है, वयहीनों, ज्ञानहीनों, तपहीन को नहीं।

यदि कोई इससे विपरित चलता है तो वह लोक विरुद्ध एवं धर्म विरुद्ध भी माना जाता है। दूसरे शब्दों में कहे तो वह उद्दण्ड है। वयोवृद्धों को नमस्कार करने पर 'कर' से आशीर्वाद देते हुए यही तो कहते हैं - चिरंजीव हो, जुग-जुग जियो, सुखी रहो। वयहीनों आदि की वयोवृद्ध आदि के प्रति ऐसी ही भावना होते हुए भी उन्हें हाथ से या मुख से व्यक्त करने का अधिकार नहीं है।

अब विचारणीय यह हो जाता है कि महत्त्व किसका है पर कल्याण की भावना का या उसके प्रतीक 'कर' से आशीर्वाद का ? इसे एक घटना के माध्यम से समझें - कोई गुरु/आचार्य किसी शिष्य से उपेक्षित होकर बदले की भावना से ग्रसित हो पिच्छी कमण्डल वापिस ले लेने की धमकी आये समय दे तब शिष्य क्या करे ? ऐसी ही परिस्थितियों से गुजरने वाले एक शिष्य ने एक विद्वान से परामर्श किया/सलाह ली। आचार्य ने पुनः एक दिन धमकी दुहराइ। शिष्य ने कहा - गुरु जी ! पिच्छी कमण्डल के साथ ही साथ 'वत्स तेरा कल्याण हो' ऐसा जो आशीर्वाद दिया था, वह भी वापिस ले लेंगे। आचार्य बगले झांकने लगे। निरुतर/निरूपाय होते देख अनजान बन कहने लगे - क्या कहना चाहते हो ? 'तुम्हारा कल्याण न हो' ऐसा कह सकें तो ये रखे हैं आपके उपकरण जिन्हें देने का अधिकार गृहस्थों को है आपको नहीं ऐसा शिष्य ने कहा। शिष्य श्रद्धा एवं चरित्रहीन नहीं था, अपितु आचार्य उसके कारण मनमानी नही कर पा रहे थे। टिक गये घुटने गुरु के। जिनके हृदय में प्राणी मात्र के प्रति कल्याण की भावना बनी हो, वे कभी आशीर्वाद वापिस लेने की स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। हो सकता है लोक लाज वश वापिस लेने के लिये कहने का साहस न कर पाये। शिष्य के समीचीन तर्क के आधार पर 'कर' से भी आशीर्वाद मिलने लगा शिष्य को। यह घटना 'पर कल्याण की भावना' इस आशीर्वाद के महत्त्व को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करती है। जो 'कर' से दिये जाने वाले को ही आशीर्वाद समझ रहा हो या उसी को महत्व देता हो वह पिच्छी धारियों में आचार्य के आशीर्वाद को श्रेष्ठ मानेगा भले ही वह भय, आशा, स्नेह, लोभ से ग्रसित क्यों न हो अन्य सद्‌भावना युक्त पिच्छी धारियों के आशीर्वाद की अपेक्षा।

भाव नमस्कार और भाव आशीर्वाद एक दूसरे पर आश्रित तो हैं ही नहीं। साथ ही जो उनके प्रतीक हैं वे भी एक दूसरे पर सर्वथा आश्रित नहीं हैं। यदि आश्रित हो जायें तो अर्हंत सिद्ध एवं प्रतिमाओं को नमस्कार कोई करेगा ही क्यों, क्योंकि आशीर्वाद उनसे मिलना सम्भव ही नहीं है। शेष परमेष्ठी भी आहार एवं सामायिक के समय वंदनीय नहीं हो सकते, क्योंकि आशीर्वाद की अपेक्षा रखने वाला उन्हें नमस्कार नहीं कर सकेगा। अल्पज्ञों को संतोष हो अतः आशीर्वाद हेतु काय/वचन की प्रवृति होती है। अतः हम जैसे साधकों को परम आवश्यक हो जाता है कि अल्पज्ञों के आक्षेपों पर ध्यान न देते हुए आशीर्वाद रूप

काय एवं वचन प्रवृत्ति में इतने रचें-पचें न कि वे नमोस्तु शब्द के साथ अविनाभावि होकर आदि, मध्य एवं अन्त चित्रंजन में बाधक सिद्ध हों। नमस्कार एवं आशीर्वाद निरपेक्ष न हों तो दोनों का ही बदले की भावना से ग्रसित हो सकना असंभव नहीं है कि इसने मुझे नमस्कार नहीं किया। किसी दिन सैकड़ों लोगों के बीच में ऐसा नीचा दिखाऊंगा कि सारी अकड़ भूल जायेगा। नमस्कार करने वाले को भी आशीर्वाद न मिले तो किसी के बदले की भावना से ग्रसित हो जाये। नमस्कार करने वालों को चाहिये की वे 'कर' से आशीर्वाद की अपेक्षा न रखें।

एक साथ सबके कल्याण की भावना में और एक साथ कुछ की या एक की कल्याण की भावना में बहुत अन्तर होता है एक साथ सब को या कुछ को या एक को नमस्कार करने की तरह। विशेषता इतनी है कि पर कल्याण के आशीर्वाद का प्रतीक उठा हुआ 'कर' एक साथ अनगिनते लोगों को आशीर्वाद देना सुविधा की दृष्टि से उचित भी है, लेकिन एक ही बार में सब को नमस्कार कर लेना सर्वथा अनुचित है। जैसे दस-पाँच साधु एक साथ बैठे हों तो उन्हें एक बार झुककर नमस्कार कर लेना उचित नहीं है असमर्थता हो अलग बात है। अधिकांश लोगों को सामूहिक रूप से दिये गये आशीर्वाद से संतोष नहीं होता अत: व्यक्तिगत रूप से आशीर्वाद की आशा रखते हैं क्योंकि पता नहीं किसके प्रति आत्म कल्याण की भावना हो और किसके प्रति नहीं। साधु भी ऐसा सोच कर आशीर्वाद न दें कि पता नहीं किसे नमस्कार किया। सारा झगड़ा प्रतीक रूप आशीर्वाद को महत्वपूर्ण मान लेने का है।

III आदत काण्ड

71 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, साधु नहीं स्वादुता है यह जिनका है उल्टा श्रद्धान।

'भोगे जो भोग पहले उनका न होवे सुमरन' ऐसी भावना भाते हुए भी तो वृद्धावस्था के देहाँत की ओर दृष्टि चली जाती है प्रशिक्षण होने वाली देह के अंत या जब कभी भी होने वाली देहाँत की ओर दृष्टि नहीं जाती, अत: उसी समय ही प्रयास करता है साधक संलेखना के अतिचारों से बचने का।

'भोग' शब्द कानों में पड़ते ही या उपयोग में आते ही दृष्टि मात्र स्पर्शन इंद्रिय के विषय की ओर चली जाती है। अभी कुछ दिन पहले महाराष्ट्र प्रांत से आई एक बहन से

रात्रि भोजन त्याग के विषय में पूछा तो कहने लगी-आज से कभी रात्रि भोग नहीं करेंगे। सुनकर कुछ अटपटा-सा-लगा, क्योंकि 'भोग' शब्द स्पर्शन इन्द्रिय के लिये रूढ़ सा हो गया है। अतः पाँचों इंद्रियों के विषय सेवन की और लक्ष्य सहज ही नहीं जाता। अतः यह मानना चाहिये कि पूर्व में भोगे हुए पाँचों इंद्रियों के विषय का स्मरण ही अतिचार है। चिरकाल का अनुभव कहता है - घर में रहते हुए जब तक नीरस भोजन करने का अभ्यास न हो जाये तब तक घर का त्याग नहीं करना चाहिये अन्यथा इसके परिणाम प्रतिकूलता में अच्छे नहीं देखे जा रहे हैं।

वैसा संयोग नहीं मिल पा रहा है या मेरी स्वयं की कमजोरी कहिये कि चाहते हुए मिलावट से नहीं बच पा रहा हूँ। अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचारों में एक 'संमिश्र' (मिलावट) भी एक अतिचार है। इससे सिद्ध होता है मिलावट हमेशा से होती रही है/आई है, लेकिन इस समय अति हो रही है अतः इसे मिलावट का युग कहा जाये तो आश्चर्य नहीं। एक आचार्य के मुख से सुना था - आज कोई मरना चाहे तो शुद्ध विष भी नहीं मिल सकना सम्भव है। एक व्यक्ति ने मरने के लिये विष खाया, लेकिन मरा नहीं हो सकता है मिलावटी रहा हो। बहुत से भोगोपभोग पदार्थ ऐसे होते हैं जिनका मिलावट के बिना उपयोग नहीं किया जा सकता, अतः मिलावट आवश्यक भी है, लाभप्रद भी है। इसके अतिरिक्त अनावश्यक मिलावट अधिक हो रही है जो प्राणी मात्र के लिये हानिकारक है। प्रसंग वश कहना यह है कि खासकर मानव को बचपन से ही मिलावटी पदार्थों के सेवन का अभ्यासी/आदती बना दिया जाता है या संस्कारवश बन जाता है। बचपन से ही शुद्ध-अलग-अलग वस्तुओं का सेवन कराया जाये तो वैराग्य होने पर आत्महित (समाधि) में काफी सहायक हो सकता है। लोग कहा करते हैं - नमक, मिर्च, मीठा आदि से भोजन बड़ा स्वादिष्ट बन जाता है। उनका ऐसा मानना कहाँ तक सत्य है विचारणीय है। हमारे व्यक्तिगत विचार से उपरोक्त सोच साधुता नहीं स्वादुता है। पुद्गलमय कोई भी पदार्थ हो अन्य गुणों के साथ-साथ उसमें रसगुण तो होता ही है। भले ही उनकी अभिव्यक्ति हो या न हो। एक रस दूसरे में मिलकर एक दूसरे को विकृत कर देते हैं अर्थात् उन्हें उसी रूप में नहीं रहने देते। विकृत हुए रसों की शक्ति बढ़ती भी है और घट भी जाती है। बढ़ी-घटी शक्तियाँ किसी को लाभप्रद भी होती हैं और हानिप्रद भी। ऐसा समझना हर किसी के लिये सम्भव नहीं है। समझदार हों या नासमझ आदत के अनुसार विकृत रसवान पदार्थों का सेवन करने वाले कोई कभी लाभ में रहते हैं और कोई कभी घाटे में भी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से। जिव्हा लोलुपता की दृष्टि से तो सभी को हानि ही हानि है, क्योंकि वहाँ पेट भरने का लक्ष्य गौण होता है। प्रचलित रसों से रहित खाद्य पदार्थ नीरस माना जाता है।

रसवान पदार्थों की तरह नीरस भोजन से पेट भरना नीरस भोजन करने की आदत डाले बिना सम्भव नहीं है।

बचपन की आदत को छोड़ना कठिन हो सकता है असम्भव नहीं। अनुभव की बात है जब संसार मार्गी थे उस समय एक घूंट गरम पानी भी गले नहीं उतार पाते थे, लेकिन अब ठंडा पानी गले उतारना रुचिकर नहीं है। ऐसा भी अनुभव हुआ है कि किसी भी रस को क्रमश: शनै: शनै: न छोड़कर एक दम छोड़ दिया जाये तो उसका प्रभाव शरीर पर प्रतिकूल रूप से पड़ता है।

'पराधीन मुनिवर की चर्या' के अनुसार कोई साधक भोजन में, शरीर के लिये अति आवश्यक रसों का मिलाकर प्रयोग करने की अपेक्षा अलग से इनका प्रयोग करना चाहे, लेकिन वैसा जगह-जगह प्रतिदिन कर नहीं सकता।

72 क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ निज का निज वैद्य बने तो निज का हो निश्चित निर्माण।

प्रत्येक साधक आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञाता नहीं होता, न हो सकता है। अधिकतर यह देखा जाता है जो ज्ञाता होते हैं, उन्हें वैराग्य नहीं होता। अपवाद रूप में ऐसे मिल जायें। हमारे व्यक्तिगत विचार से वे सफल समाधि करते होंगे, क्योंकि वे विपरीत रसों के कु-प्रभाव से अपने आपको समय-समय पर बचाते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो रसवान या नीरस पदार्थ किसी को अभी अनुकूल हैं, वे हमेशा उसे अनुकूल रहेंगे, क्योंकि शरीर की प्रकृति/पाचन शक्ति में परिवर्तन होता रहता है। मान्यता भी है कि किसी के तीनोंपन एक जैसे नहीं जाते। यह बात अलग है कि किसी के जीवन में तीनोंपन प्राप्त हीन हो पायें। तीनोंपन सरोग अवस्था में ही निकल जाये ऐसे बहुत मिलेंगे। शायद है इस समय ऐसे लोग हों जिनके तीनों पन नीरोग अवस्था में ही निकलते हों। इनमें हम तो नहीं है।

चिरकाल तक शरीर में रहते हुए हर किसी को उससे कुछ न कुछ परिचय तो प्राप्त हो ही जाता है। परिणामों पर गौर करने वाले प्रकृति के अनुकूल एवं प्रतिकूल भोजन से परिचय प्राप्त कर लिया करते हैं। प्रकृति के प्रतिकूल आहार-द्रव्य, क्षेत्र, काल से होने वाले वेदनामय संक्लेश भावों से अपने आपको बचाने के लिये संयम भी एक औषधि है। अभी तक हमें जो जीने का सौभाग्य संयम के बल पर ही मिला है। यह हम विश्वास के साथ कह सकते हैं। कि असंयम की दशा में इससे बहुत पहले आयु कर्म की उदीरणा हो गई होती।

निरंतर एक दिन उपवास और एक दिन आहार करने वाले एक मुनि श्री एक साधु की समाधि में सहयोग करने के लिये आये थे, लेकिन एक दिन के प्रकृति प्रतिकूल आहार का परिणाम यह हुआ कि पहले स्वयं समाधिस्थ हो गये, चौबीस घंटे संक्लेश की ही स्थिति में। ऐसा समझ में आया कि उपवास के बाद कैसा आहार प्रकृति के अनुकूल होता है इससे अनजान थे या जानते हुए भी जैसा कैसा भी आहार करके पेटभर लिया, क्योंकि दूसरे दिन उपवास करना है। दाताओं की अनजान दशा से कौन परिचित नहीं है। जब उसे ज्ञात हो कि इनका कल उपवास रहेगा अत: कुछ भी खिला देने से चूकता नहीं है। भिन्न-भिन्न समय में ग्रहण की जाने वाली चींजे जो प्रकृति के अनुकूल होती हैं या दिन में अनेक बार पानी पीने पर जो चींजे प्रकृति के अनुकूल होती हैं, वे ही एक ही साथ, एक ही बार, एक ही बेला में ग्रहण कर ली जाती हैं तो वे ही प्रकृति के प्रतिकूल हो जाती हैं। इस प्रतिकूलता से मुझे ही नहीं किसी भी साधक को छुटकारा कभी नहीं मिल सकता। उदाहरण के लिये आयुर्वेद कहता है - आहार के तत्काल बाद पानी पीना विष के समान है। कम से कम एक घंटे बाद पीना चाहिये जो साधु की आहार चर्या में सम्भव नहीं है। यहाँ पुरुषार्थ की नहीं चलेगी। जब यह जाना जा रहा हो कि अमुक वस्तु प्रकृति के प्रतिकूल है, लेकिन उसे त्यागने की मानसिकता नहीं बन पा रही हो पुरानी आदत के कारण या यह समझ में नहीं आ रहा हो कि प्रकृति के प्रतिकूल कौन सी वस्तु हो रही है या दैव ही जब प्रतिकूल होता है, तब प्रतिकूल वस्तु भी अनुकूल एवं अनुकूल वस्तु प्रतिकूल समझ में आने लगती है, तब चिन्ता होती है कि संक्लेश से कैसे बचा जाये। अशन की तरह अनशन में भी आसक्ति का निषेध किया गया है। अनशन में आसक्त कई एक साधु असमय में काल कवलित होते हुए सुने गये हैं। उपवास के लिये आहार में असावधानी तो बरती जाती है साथ ही एषणा समिति के निर्दोष पालने में लापरवाही बरती जाती है जो समाधि में बाधक है।

73 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, हम तो रहें दूध से धोये मौसम है बेइमान।

समय-समय पर मौसम परिवर्तित होता रहता है और कभी असमय में भी परिवर्तन होता रहता है। क्षेत्र परिवर्तन भी होता रहता है। आहार (द्रव्य) क्षेत्र के प्रतिकूल प्रभाव से बचने के लिये पुरुषार्थ चल सकता, चलता है, लेकिन मौसम के प्रतिकूल प्रभाव से बचना हर किसी के पुरुषार्थ के ऊपर निर्भर नहीं है। मौसम परिवर्तन पर अधिकांश लोग सर्दी, जुकाम से पीड़ित हो जाते हैं और कुछ नहीं भी होते हैं। इसका क्या कारण हो सकता है।

मौसम ही कारण हो तो सभी को पीड़ित होना चाहिये या किसी को भी पीड़ित नहीं होना चाहिय। इस विषय में हमने सैद्धांतिक दृष्टि से समाधान निकाला है। मौसम अपना प्रभाव अकारण नहीं डालता अर्थात् प्रतिकूल नहीं होता। प्रकृति के प्रतिकूल भोजन अपना दुष्प्रभाव डालने में प्रतिकूल मौसम की अपेक्षा रखता है और ये दोनों कर्म के उदय की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् कर्म प्रतिकूल न हों तो वे प्रतिकूल होकर भी दुष्प्रभावी नहीं हो सकते।

जिस समय जिसके पुण्यानुबंधी पुण्य का उदय चलता है उस समय वह निरंतर सावधानी बरतता है अत: वर्तमान में तो वह प्रतिकूल मौसम के दुष्प्रभाव से तो बचा ही रहता है भविष्य में भी बचा रह सकता है। पुण्यानुबंधी पाप का उदय हो तो सावधानी बरतता हुआ भी उसके प्रभाव से बच नहीं पाता। लाभ यह होता है कि शरीर के अंदर का विकार निकल जाता है, अत: आगामी समय में असाध्य रोगों से बच जाता है। पापानुबंधी पुण्य का उदय होने पर असावधानी बरतता हुआ वे मौसम के प्रभाव से बच जाता है तत्काल। लेकिन पुण्यक्षीण होने पर असाध्य रोगों से बच नहीं पाता। पापानुबंधी पाप का उदय होने पर असावधानी तो बरतता ही है वेमौसम के दुष्प्रभाव से भी नहीं बच पाता है। सारांश यह है कि मौसम प्रतिकूल न हो ऐसा पुरुषार्थ तो किसी के द्वारा किया नहीं जा सकता, लेकिन आहार संबंधी सावधानी वरत कर मौसम के दुष्प्रभाव से बचा जा सकता है। अत: हर क्षण समाधि का इच्छुक लापरवाह नहीं होता।

आयुर्वेद शास्त्रों के अनुसार किस महीने कौन-सी-वस्तु नहीं खाना चाहिये। उदाहरण के लिये - 'सावन दूध भादवा मही क्वांर करेला कार्तिक दही' खाने पर 'मर हो नें तो पर हो सही'। वर्तमान में शायद है कोई गृहस्थ एवं साधु महीने के अनुसार परहेज करते हों। तीसरे एवं चौथे प्रकार के आत्मा उपरोक्त परहेज पर न विश्वास करते हैं और न अनुकरण ही। यही कारण है कि एक देर से और अवेर से दुष्प्रभाव से ग्रस्त हो जाता है।

डॉक्टर व लोगों का मानना है कि मच्छर के काटने से मलेरिया, बाल उखड/टूट जाने से बाल तोड़ एवं जगह-जगह का पानी पीने से जुखाम हो जाता है। साधुओं को ऐसे अवसर आते ही रहते हैं, लेकिन इन अवसरों पर ऐसा होता ही हो ऐसा नहीं है, अपितु यह तो कई दिनों का संचित विकार है जो उपरोक्त निमित्तों के मिलने पर बाहर आ जाता है। अन्यथा साधु हमेशा मलेरिया से पीड़ित रहें, फोड़े बने रहें, जुखाम से पीड़ित रहें।

वैसे तो हमे प्रतिकूल पदार्थो का असर जल्दी समझ में आ जाता है। एक बार पापानुबंधी पुण्य का ऐसा उदय और उदीरणा जो 'अतिसर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार हमेशा के लिये सचेत कर गया। पर्यूषण में दस दिन तक हरी के स्थान पर तीखी चीज का जरुरत से

ज्यादा प्रयोग कर गया। वह ऐसे रोग का कारण बन गयी जिसने मृत्यु के निकट होने का आभास करा दिया। उपरोक्त कर्म का उदय अधिक समय तक न रहने से सम्हल गया।

पता नहीं किस भव में मैने भी जुखाम जैसे असाध्य रोग को चिरकाल तक बनाये रखने वाला विकार संचित कर रखा है जो हो सकता है अंतिम समाधि में बाधक बने ! हर क्षण की समाधि में बाधक तो बन ही रहा है। हो सकता है - औषधि के क्रय-विक्रय, मुनाफाखोरी एवं नकली औषधि/मिलावट इस रोग का कारण हों।

74 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, आदत से लाचार ये आदी करते हैं दुर्ध्यान।

वैद्यों का मानना है - आपके शरीर की प्रकृति कफ प्रधान है जिससे जीवन पर्यंत छुटकारा नहीं पाया जा सकता। छुटकारा पाने की कोशिश की जायेगी तो उसका प्रभाव अच्छा नहीं होगा। और फिर यह आपके लिये वरदान है। आयुर्वेद के अनुसार कफ प्रधान प्रकृति वाला बुद्धिमान होता है। हमने कहा आप ठीक कहते हैं। अनुभव होते ही रहते हैं - जब कभी जुखाम को छेड़ा गया है उस समय दिमाक उतना नहीं चलता जितना चलना चाहिये। खैर उपरोक्त प्रकृति से छुटकारा भले ही न मिले इसकी चिन्ता नहीं। छुटकारा मिलना चाहिये आदत से। यह बात हम हमेशा कहा करते हैं कि कभी भी किसी के आदी नहीं होना चाहिये, क्योंकि किसी चीज के आदी बने रहना निश्चित रूप से समाधि में बाधक है। आदी होना आर्त-रौद्र ध्यान का कारण है। एक अनुभवी के मुख से सुना था - मानव बचपन से ही गरम भोजन एवं ठंडा पानी पीने का आदी हो जाता है, जो ब्रह्मचर्य में बाधक है अत: इसे सत्य मानकर, ब्रह्मचारी किसी भी पद पर हो उसे ठडा भोजन करना एवं गरम पानी पीना चाहिये। गरम भोजन करने का आदि ठंडे भोजन से भी पेट भर भोजन करने लगे तब समझना चाहिये कि उसने आदत पर विजय प्राप्त कर ली। ठंडे पानी की आदत भले ही छूट गई, लेकिन अभी गरम भोजन करने की आदत नहीं छूटी। यह उस समय समझ में आ जाता है जब ठंडा भोजन हाथ पर आता है और मन उबलने लगता है कि दाताओं ने पशु समझ रखा है क्या साधुओं को? प्रत्येक दाता समझदार होता और प्रत्येक साधु को ब्रह्मचर्य के अनुकूल भोजन देता तो आदत को मन मार कर छोड़ देता, लेकिन अधिकांश दाता अपने ही समान साधुओं को भी समझते हैं। ठंडे की अपेक्षा प्राय: गरम भोजन ही मिला करता है। यह भी एक कारण है कि प्रत्येक साधु ठंडे से सामन्जस्य नहीं बैठा पाता।

जैन समाज में रोटी प्राय: घी चुपड़कर ही खाई जाती है। यही कारण है कि चुपड़ी खाने की आदत बचपन से ही पड़ जाती है। पुण्यानुबंधी पाप के उदय से घी प्रकृति के अनुकूल नहीं। यह हमारे लिये वरदान सिद्ध हुआ कि बचपन से चुपड़कर खाने की आदत छूट गई। लोग कहा करते हैं - किसी दिन चावल न मिलें तो पेट नहीं भरता। दूध न मिले तो वैसी ही स्थिति होती है, लेकिन इन आदतों से छुटकारा पा चुके हैं। इन आदतों को छोड़ना कठिन इसलिये नहीं है, क्योंकि मनुष्य कृत हैं, कर्मकृत नहीं हैं।

एक वह भी समय था जब बिना तकिये के नींद नहीं आती थी। अब तकिया लगाने पर नहीं आती। जब संस्तर ही समाधि का साधन नहीं है, तब तकिया बहुत दूर की बात है। तकिया राजसिक वृत्ति का सूचक है सात्विक का नहीं। साधुता नहीं स्वादुता है। स्वयं हाथ का भी तकिया लगाया जाता है, लेकिन यह भी एक आदत है, जो शरीर में सामर्थ्य न रहने पर आकुलता का कारण हो सकती है, हो जाती है।

पंद्रह वर्ष तक क्षुल्लक पद पर साधना करते हुए एक महाराज मुनि बन गये। चिटाई का त्याग पहले से ही था। चादर ओढ़ने के आदी थे, अत: बिना उसके कुछ दिन नींद न ले सके। कहने लगे - कागज जैसा पतला कपड़ा भी नींद में सहायक हो जाता है। बनियान पहनने की तरह शरीर से चिपका कर चिटाई एवं चादर ओढ़ने की आदत चिरकालीन हो तो उनके बिना नींद कैसे आ सकती है। कोई साधु बिना आलंबन के नींद लेने का अभ्यास करे और आलंबन को बगल में रख ले तब भी सफलता हाथ नहीं लग सकती। साधन सुलभता से उपलब्ध हों और फिर भी उनसे अछूता रह जाये यह बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

75 क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, जो श्वानवत् निद्रा से दूर करता थकान।

लेटकर निद्रा लेने की आदत तो पैदा होते ही पड़ जाती है। प्रश्न है कि क्या इस आदत से भी छुटकारा पाया जा सकता है ? क्यों नहीं, अभ्यास किया जाये तो इस आदत से भी छुटकारा पाया जा सकता है। यह तो अनुभूत है कि लेटकर नींद लेने में थकान, बैठकर लेने की अपेक्षा जल्दी एवं ढंग से दूर हो जाती है। प्रमाद/आलस्य की स्थिति इससे ठीक विपरीत है - बैठने की अपेक्षा लेटने में उसकी अधिकता होती है। कुन्द कुन्द स्वामी अभ्यास का क्रम बताते हैं - भिक्षाचर्या से भोजन करो, जंगल में रहो, थोड़ा भोजन करो, बहुत मत बोलो, दु:खों को सहन करो, एवं मैत्री भाव रखो, तब निद्रा पर विजय प्राप्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में बैठकर निद्रा लेने का अभ्यास या लेटकर निद्रा लेने की आदत छूटना कतई कठिन नहीं है। जहाँ चिकित्सा शास्त्रों एवं चिकित्सकों ने गाढ़ निद्रा को

स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद माना हैं वहीं धर्मशास्त्र आत्महित की दृष्टि से हानिप्रद मानते हैं। इसलिये निद्रापर विजय प्राप्त करना अच्छे वैराग्य का लक्षण माना गया है। अस्वस्थ· अवस्था के कारण नींद न आना एक अलग बात है। अनुभव होते ही रहते हैं - शरीर अस्वस्थ होने पर श्रम तो छूटता ही है साथ ही खान-पान भी छूटता है या नाम मात्र के लिये रह जाता है फिर निद्रा देवी के कहने क्या, कहो रात भर प्रतीक्षा करने पर भी न आये। भोजन का अल्प या पर्याप्त (पेटभर खाने की आदत) होना परिश्रम के अल्प बहुत्व पर निर्भर करता है और निद्रा का अल्प या बहुत आना भोजन एवं श्रम पर निर्भर है। निद्रा पर विजय हठ योग से करना शरीर और आत्मा दोनों के हित में नहीं हैं। जो पर्याप्त श्रम एवं भोजन करते हुए निद्रा पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करे वह हठ योग है।

"भूमाँहि पिछली रयन में कछु शयन एकासन करें" यह पंक्ति इस समय के साधुओं के लिये लागु करने का अर्थ "कूवत कम गुस्सा ज्यादा लक्षण हैं पिटने के आमद कम खर्चा ज्यादा लक्षण हैं मिटने के" इस लोकोक्ति के साथ जोड़ना है। वर्तमान साधु एवं भक्तों की दशा को देखते हुए लगता है कि साधु इस आधार पर चले तो समाधि नहीं अकाल मौत निश्चित रूप से होगी। छहढाला की उपरोक्त पंक्ति के अनुसार तो नहीं, अपितु अनावश्यक परिश्रम करके जितना समय निद्रा में निकाल देता है उससे आधा या चौथाई समय ही निद्रा के लिये दिया जा सकता है, यदि शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम संबंधी अनावश्यक जिम्मेदारी अपने ऊपर न ली जायें तो।

इस मौलिक जीवन का लगभग आधा समय निद्रा में ही निकल जाता है। सचेत/ जाग्रत अवस्था में जिस साधक का एक क्षण भी प्रमाद में निकल जाने पर पश्चाताप का कारण हो जाता है, तब आधा समय अचेत अवस्था में निकल जाता हो उसके पश्चाताप की क्या स्थिति होती होगी। साधु गृहस्थों की तरह निद्रा के लिये पर्याप्त समय निकाल देता है। यह गलत है, इस पर न के बराबर लोग गौर करते हैं। ऐसे ही लोगों के कारण अनावश्यक जिम्मेदारियाँ स्वीकार ली हैं। ऐसी स्थिति में परिश्रम के अनुसार निद्रा न लें तो लक्षण हैं मिटने के। श्यानवत् निद्रा अल्प श्रम एवं अल्पाहार के आधार पर हो सकना सम्भव है। यह तो अनुभव की बात है कि अजगरवत् गाढ़ निद्रा की अपेक्षा श्वानवत् निद्रा में निद्रागत दोषों की सम्भावना प्राय: नहीं रहती। आयुर्वेद में शारीरिक स्वास्थ्य की ही मुख्यता होती है आत्म विशुद्धि की नहीं। पालतू पशुओं में घोड़े को छोड़कर शेष पशु प्राय: बैठकर, लेटकर अल्प निद्रा लेते हुए थकान दूर कर लेते हैं। घोड़े के भाग्य में लेटना तो दूर बैठकर निद्रा लेना भी नहीं है। जो ऐसा करते हैं वह उनका दुर्गुण माना जाता है। अत: खड़े होकर ही लेते हैं। हम समझते हैं वह श्वान निद्रा से भी बढ़कर है। प्रश्न उठता है -

अश्ववत् निद्रा क्यों नहीं कहा ? हम समझते हैं वह मनुष्यों का दुर्गुण है। खड़े-खड़े निद्रा आना गाड निद्रा का प्रतीक है।

76. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, कुन्द-कुन्द देव करें हमारा शंका-समाधान।

कुन्द-कुन्द लिखते हैं - भरत क्षेत्र पंचम काल में "अज्झयण मेव झाणं" अध्ययन ही ध्यान है, क्योंकि कालिकाल में मानव मन अति चंचाल है, अत: बिना आलाम्बन (सहारे) के टिकता नहीं है। ऐसी स्थिति में साधु कैसे सामन्जस्य बैठाये। चाहे दिन हो या रात मन को आलंबन की ही आवश्यकता पड़ेगी। आहार, बिहार, निहार एवं निद्रा के समय को छोड़कर शेष समय में मन को लगाये रखने के लिये शास्त्रों का अध्ययन करना होता ही हैं, धर्म उपदेश देना होता ही है। ऐसी स्थिति मे नियम से परिश्रम होगा ही, फिर निद्रा पर विजय प्राप्त करना कठिन ही नहीं असम्भव सा भी लगता है, हम जैसे साधुओं के लिये। हम समझते हैं - उपलब्ध साधुओं में सबसे हीन सहनन वाले हम ही हैं। नहीं चाहते हुए भी ऐसे अवसर आते ही रहते हैं जब शारीरिक क्षमता से अधिक विहार उपदेशादि करने होते हैं। अध्ययन एवं लेखन करना होता है। इस अधिकता का आभास उस समय होता है जब आवश्यकों मे अनुत्साह की स्थिति बनती है। यह अनुभव कई लोगो के सामने व्यक्त किया जा चुका है कि एक घंटे उपदेश करने के बाद लगता है जैसे पंद्रह-बीस किलोमीटर विहार करके आये हो। ऐसे प्रसंग में एक वृद्ध ब्रह्मचारी जी की वह सीख (शिक्षा) याद आ जाती है कि चलो फिरो थको मत, बोलो चालो बको मत, देखो भालो तको मत एवं खाओ पिओ छको मत। हमारे अनुभव से इन चारों बातों का समय-समय पर अनुकरण किया जाये तो हम जैसे हीन शक्ति वाले भी अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। अन्यथा तो देखा यह गया है कि थकान की स्थिति मे उस समय तक लेखन, अध्ययन, अध्यापन, ध्यान मे मन नहीं लगा पाते जब तक थकान किसी न किसी रूप में निकल न जाये। सारांश यह है कि बिना आलंबन के मन की श्वान जैसी स्थिति होती है और आलंबन लेने पर श्रम की अधिकता से अनुत्साह की स्थिति बनती है और फिर आलंबन कब तक लेगा? ले न सकने की स्थिति में मन की चंचलता को रोकने का क्या उपाय है? ऐसी स्थिति निर्मित हो जाने की सम्भावना से ही तो साधक भावना भाता है - "धर्मात्मा निकट हो चर्चाधरम सुनावे वे सावधान रखें गाफिल न होने पाऊं"। परावलंबी होने की स्थिति किसी भी क्षण आ सकती है, आ जाती है। अंतिम देहाँत के समय ही नहीं।

मोक्ष मार्ग पर चलते हुए बीस वर्ष व्यतीत होने जा रहे है, लेकिन निकट भविष्य में

आसार समझ में नहीं आ रहे हैं शास्त्रों के आधार पर अध्ययन में आसक्ति कम होने के, दूर होने के। कहा जा सकता है - अध्ययन में आसक्ति होना यह तो अच्छी बात है फिर आप अनासक्त होना क्यों चाहते हैं ? 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार लगता है कि समाधि में सहायक मात्र अध्ययन ही नहीं है, अपितु और भी साधनाएं करना शेष हैं जो अध्ययन में आसक्ति के कारण गौण/छूट रही हैं। इनके अभाव में निश्चित रूप से समाधि से वंचित रहना हो सकता है। अध्ययन में आसक्ति के कारण विहार करने में पूर्ण रूप से अनासक्ति है। जब भी विहार करते हैं तो पश्चाताप करते हुए कि व्यर्थ समय बर्बाद हो रहा है। हमारे एक गुरुभाई दक्षिण यात्रा पर जा रहे थे। हमसे भी कहा चलने के लिये। हमने कहा- जितना श्रम एवं समय वहाँ जाने-आने में लगायेंगे इतने में धवलाग्रंथ का अध्ययन-अध्यापन कर लेंगे।

समय-समय पर आवश्यक रूप से किये जाने वाले उपवास के दिन अध्ययन पर पूर्णता विराम लग जाता है। अध्ययन का अभ्यासी मन उस दिन समय काटता है निकालता नहीं। उस दिन या तो मन अध्ययन में लगता नहीं लगाने की बलात् कोशिश की जाये तो शरीर में शिथिलता ला देता है, अतः अनशन के दिन शरीर और मन का मेल न बैठ पाने के कारण धर्म संकट की स्थिति में है आत्मा।

IV कपड़ादि आदत काण्ड

77. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, 'कुत्ता' ऐसा सुनते उठ बैठेंगे सीनातान।

कपड़ा पहनने की आदत भी बचपन से ही डाल दी जाती है। इसका छूटना कठिन नहीं है, क्योंकि यह भी मनुष्य कृत व्यवस्था है। छोड़ना कठिन है तन रूपी कपड़े को जो कि कर्मकृत व्यवस्था है। आदत के अनुसार अधिक से अधिक तीन समय ही तो लगते हैं इस कपड़े को बदलने में। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है - देहाँत के समय में "जागे नहीं कषायें नहीं वेदना सतावे" इसके लिये साधक शरीर को किस रूप में देखें ? पूज्यपाद स्वामी कहते हैं - स्थूल देह का कभी भी अन्त हो सकता है, ऐसा मानकर चलने वाला देह को कपड़े के सदृश मानता है। लोक व्यवहार में वह व्यक्ति पागल/उन्मत्त/विक्षिप्त मस्तिष्क माना जाता है जो तन पर जैसा कपड़ा पहन लेता है वैसा ही अपने आपकों मानने लगे। मोटा व्यक्ति पतला, पतला (दुबला) व्यक्ति मोटा, नया व्यक्ति फटे पुराने, वृद्ध

व्यक्ति नये, काला व्यक्ति सफेद, गोरा व्यक्ति काला कपड़ा पहनकर अपने आपकों वैसा ही मानने लगे तो अज्ञानी माना जाता है। साथ ही ऐसा मानने वालों को भी परमार्थ दृष्टि से पागल मानना चाहिये जो जैसा शरीर मिलता है अपने आपको वैसा ही मानने लगते हैं। उसकी यह मान्यता उस समय स्पष्ट हो जाती है कि जैसा वे अपने आप को मान, जान एवं अनुभव कर रहे हैं उससे विपरीत संबोधित किये जाने पर आपे से बाहर जो जाते हैं। जैसे मनुष्य को कुत्ता कहने पर लड़ने, मरने तैयार हो जाता है, भले ही उनका आचरण ठीक वैसा ही क्यों न हो। पुरुष को स्त्री या नपुंसक समझ लेने पर आग बबूला हो उठता है। इतना ही नहीं शरीर की जैसी अवस्थायें ढलती हैं वैसे-वैसे अनुभव में अन्तर आता जाता है। वृद्ध, प्रौढ़, जवान को 'बेटा' कहकर संबोधन करने पर अपमान समझ लेता है। भले ही बालक वत् चेष्टाएं क्यों न हों। प्रतिपल होने वाली अनात्मभूत अनुभूतियाँ प्रतिक्षण होने वाली मृत्यु को सूचित करती हैं समाधि को नहीं।

देव, गुरु, शास्त्र की स्तुति करते समय महिलाएं अपने आप को 'करती हूँ, कर रही हूँ' इत्यादि रूप से संबोधन करती हैं। एक दिन एक विद्वान ने कुछ ब्र. बहिनों से कहा - 'करती हूँ' की जगह 'करता हूँ' उच्चारण करना चाहिये। 'करती हूँ' कहना पर्याय बुद्धि है। प्रश्न उठता है - क्या 'करता हूँ' कहना पर्याय बुद्धि नहीं है या पुरुष पर्याय बुद्धि से बचने के लिये क्या अपने आप को 'करती हूँ' ऐसा कहें? ऐसा करना तो शोभा ही नहीं देता। भूल से भी कोई ऐसा कर जाये तो उसका उपहास होता है। फिर महिलाओं का अपने आप को पुरुष रूप संबोधन उपहास का कारण क्यों नहीं। कहने मात्र से अनुभूति बदल नहीं जाती। यह तो सर्व मान्य है कि तीनों वेदों में पुरुष वेद श्रेष्ठ हैं, लेकिन उसे पाने का उपरोक्त तरीका नहीं है।

ब्रह्मचारी, श्रावक, क्षुल्लक, ऐलक, मुनि जैसे शब्दों/पदों के सुनने पर भी दृष्टि पुरुष वेद की ओर चली जाती है। क्षुल्लिका आर्यिका, श्राविका, ब्रह्मचारिणी शब्दों/पदों को सुनने पर स्त्री वेद की ओर दृष्टि चली जाती है। फिर इन्हें धारण करने का औचित्य क्या है ? यह तो कर्म सिद्धांत का जानकार ही जानता, मानता, अनुभव कर सकता हैं। 'वेद' यह कर्म के उदय की अवस्था है और श्रावक आदि पद हैं ये कर्म के क्षयोपशम रूप अवस्था। इन अवस्थाओं के होने पर पुरुष को कोई स्त्री या नपुंसक कहे तो उग्र रूप धारण नहीं करता जैसा की उपरोक्त अवस्था रहित पुरुष कर लिया करते हैं। पुरुष होते हुए श्रावक आदि की अवस्था में पुरुष अनुभूति गौण हो जाती है। वैसे ही श्राविका आदि अवस्था में स्त्री वेद की अनुभूति गौण हो जाती है। वैसी स्थिति में इस तन कपड़े के प्रति लाखों वर्षों तक जीऊं या मृत्यु आज ही आ जाये यह भावना सक्रिय रूप से जीवन के हर क्षण में अपना रंग दिखाती रहती है।

78 क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, (सदुपयोग वही करते) पुण्यहीन धर्मात्मा हों या हों पुण्यवान।

पुण्यानुबंधी पुण्यात्मा हो या पापानुबंधी पुण्यात्मा दोनों को इतना मजबूत मनुष्य तन रूपी कपड़ा मिल जाता है जिसका समय से पहले फटना सम्भव नहीं है। "तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश। रवि शशि से भी अधिक है तुममे दिव्य प्रकाश" इस श्लोक के अनुसार पहला वाला इस तन कपड़े का सदुपयोग करके शरीरातीत हो जाता है अर्थात् ज्ञान शरीरी हो जाता है। दूसरा इसका दुरुपयोग करके सातवें नरक तक चला जाता है। वहाँ ऐसा तन धारण करता है जिसका छूटना या छोड़ना असमय में असम्भव है। वर्तमान में इस भरत क्षेत्र में उपरोक्त दोनों ही प्रकार के आत्माओं का अभाव है। इनके अतिरिक्त विद्यमान आत्मओं पर विचार करें -

वैसे देखा जाता है कि धनवानो को कपड़ा पुराना होने, फट जाने/गुम जाने का भय नहीं होता तो भी, यदि विवेकी है तो सदुपयोग ही करता है। अभिमानी उसका दुरुपयोग करता है। भेद ज्ञान के रहते खासकर महाव्रती साधुओं को शरीर छूट जाने का भय रहता ही नहीं जो कि मिथ्यादृष्टि असंयमी को हुआ करता है। कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं "भेद ज्ञानी की दृष्टि में यह शरीर छिद जाये, भिद जाये, कोई इसे ले जाये या नाश को प्राप्त हो जाये और जहाँ कहीं भी चला जाये फिर भी यह मेरे लिये परिग्रह नहीं हो सकता।"

कपड़ा कैसा भी हो सस्ता हो या महंगा, कमजोर हो या मजबूत। उसका समय से पहले या समय तक अनुपयोगी होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है। सस्ता कमजोर ही होता हो सो भी बात नहीं, अपितु महंगे की तरह मजबूत भी होता है। उसी प्रकार महंगा मजबूत ही होता हो सो भी बात नहीं, अपितु सस्ते की तरह कमजोर भी होता है। दुरुपयोग किया जाये तो महंगा, सस्ता कैसा भी मजबूत कपड़ा समय से बहुत पहले फट जाता है। सदुपयोग किये जाने पर महंगा, सस्ता कपड़ा भी निश्चित समय तक चल जाता है। फटने की जिसे चिन्ता नहीं होती एवं जब कभी नये खरीदने की व्यवस्था हो तो जरुरत से ज्यादा काम लेगा। उन्हें पहन कर शारीरिक परिश्रम तो करेगा ही, गंदे होने पर धोयेगा। इतना तो फिर भी ठीक, किन्तु धोने में आई सुकडन को दूर करने के लिये लोहा (प्रेस) करेगा, क्योंकि इसके बिना न स्वयं को अच्छे लगते हैं और न दूसरों को ही, अतः समय से पहले जलकर नष्ट हो जायें इसकी चिन्ता नहीं होती, सुकडन नहीं होना चाहिये। वे भी इनका अनुकरण कर लेते हैं जिनके पास समय से पहले फट जाने पर नये खरीदने की व्यवस्था नहीं होती, भले ही निर्वस्त्र जीवन गुजारना पड़े शेष समय के लिये। कुछ के व्यवस्था होते

हुए भी कंजूसी से काम लेते हैं अत: थिगड़ा लगाकर उन्हीं से काम चलाते हैं। धनवान धर्मात्माों को अनावश्यक परिश्रम करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और न वह करता है। अधिकांश लोग उन्हें भी कंजूस समझ लेते हैं जो सदुपयोग करते हैं। धनहीन धर्मात्माओं को आक्षेप सुनने होते हैं।

तन कपड़े के साथ कमजोर एवं मजबूत का व्यवहार प्राय: चला करता है। पुण्यवान धर्मात्माओं को मजबूत एवं पुण्यहीन धर्मात्माओं को कमजोर तन रूप कपड़ा मिल जाता है। पहला तो इच्छानुसार धर्मपुरुषार्थ रूप समाधि की साधना कर लेता है। दूसरा चाहते हुए भी नहीं कर पाता, लेकिन दोनों करते सदुपयोग ही हैं। शेष पुण्यवान एवं पुण्यहीन अधर्मात्मा दुरुपयोग ही करते हैं धर्म पुरुषार्थ हीन अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की अधिकता से। अर्थ पुरुषार्थ तो फिर भी ठीक, लेकिन काम पुरुषार्थ की अधिकता से तन कपड़े को समय से पहले नष्ट करते हुए ऐसे मालुम पड़ते हैं जैसे कपड़े पर आयी सकुडन को दूर करने के लिये प्रेस करके समय से पहले जलाकर नष्ट कर रहे हों। धोखा इसलिये खा जाते हैं कि वे तत्काल वैसे होते हुए दिखते नहीं हैं।

79 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, रूप के पुजारी गाते रूप के गुणगान।

व्यक्ति का व्यक्तित्व, सभ्यता इस युग में उसकी वेष-भूषा पर निर्भर हो चुकी है। ऐसे लोगों का बहुमत बाध्य कर रहा है कि सभ्यता की श्रेणी में आना है तो भेष युग के अनुसार चलो। एक आमंत्रित धनवान को परिचय पत्र दिखाने के बाद भी भेष के अभाव में आमंत्रित स्थल पर प्रवेश की स्वीकृति नहीं मिली। वे तत्काल कपड़े की दुकान पर पहुँचे। फुलपेंट-शर्ट खरीदे। पहन कर पहुँच गये। सामने आई थाली का भोजन कपड़ों को खिलाने लगे। लोगों ने उपहास किया। पूँछा-क्या कर रहे हो ? कहने लगे - मुझे नहीं कपड़ों को बुलाया गया है, अत: उन्हीं को खिला रहा हूँ। रूपवान धनवानों की तरह कितनी बड़ी भूल में हैं कि लोग हमारा सम्मान करते हैं, आदर देते हैं हमें।

वर्तमान में जिसे जैसा भी शरीर मिला उसका सदुपयोग या दुरुपयोग उसके देखने पर अच्छा लगने या बुरा लगने पर निर्भर नहीं है, मान लेना एक अलग बात है। वस्तुत: शरीर की शक्ति पर निर्भर करता है। शारीरिक बल एवं उसका सुरूप, कुरूप दोनों एक दूसरे पर निर्भर नहीं हैं कि जिनके पास शरीर बल है उनके सुरूपता ही हो और न होने पर न हो। क्योंकि शक्तिवान कुरूप एवं शक्तिहीन रूपवान भी देखे जाते हैं।

जब कोई किसी को देखता है तो उसे उसका रूप एवं आकार ही दृष्टि में आता है। लौकिकता में यह स्पष्ट रूप से देखा ही जाता है कि किसी लड़के या लड़की की योग्यता सबसे पहले उनके रूप पर निर्भर है। ऐसा कौन लड़का या लड़की होगी जो अन्य सब बातों में पूर्णतया योग्य होते हुए भी रूपवान न होने के कारण न पसंद कर दिया जाये और उनमें हीन भावना जाग्रत न हो। उनके अन्दर हीन भावना की क्या स्थिति होगी जिनमें रूपहीनता के साथ अन्य कोई विशेषताएं भी न हो। लड़कों के नहीं लड़कियों के बारे में सुना है कि अनेक बार ना पसंद कर देने के बाद उन्होंने मोक्ष मार्ग का रास्ता अपना लिया। आर्यिका बन गईं। अब विचारणीय हो जाता है कि विधवा वैराग्य की तरह उनके वैराग्य में कितनी वास्तविकता होगी। खेर कैसा भी हो, हो सकता है उनके वैराग्य का निमित्त कारण उपेक्षा ही रही हो, लेकिन क्या वे उपेक्षा के शिकार होने से यहाँ (मोक्षमार्ग) से बच सकती हैं ? यदि नहीं बच सकती, तब वे कौन सा मार्ग अपनायेंगी या अपना रही हैं, क्योंकि उनके शरीर की दशा 'गुर्वेल और नीम पर चढ़ी' जैसी हो जाती है। सुन्दरता के अतिरिक्त लोगों की अपेक्षा के अन्य और गुण न हों तो यह मोक्षमार्ग उससे भी अधिक दु:खदायी हो जायेगा उसे।

मोक्षमार्ग पर चलते हुए ऐसे साधकों को देखकर जिन रूप के पूजारियों की आँखें तृप्त नहीं होती उनकी उन साधकों के प्रति उपेक्षा कह रही है कि साधु बनना ही नहीं था। जैसे नापसंद करने वालों की अपेक्षा उस लड़की को पैदा ही नहीं होना चाहिये था। साधकों के प्रति यह उपेक्षा साधकों के लिये बाध्य कर रही है कि इस तन कपड़े में इस जीवन में तो परिवर्तन हो नहीं सकता, लेकिन साफ-सुथरा तो रखा जा सकता है और आगामी पर्याय के लिये भावना करना चाहिये कि मुझे कामदेव जैसा शरीर प्राप्त हो जिससे हम जैसे लोगों की अपेक्षा के पात्र बन सको। साधु भी तो अछूता नहीं है इस पर्यायि मूढ़ता से। कितने खुश होते हैं गुरु-शिष्य एक दूसरे को रूपवान पाकर। नाखुश होते हुए भी देखा गया है रूपहीन होने की स्थिति में। साधना करने के बहाने घर भगा देते हैं।

ऐसा कोई दिन बाकी नहीं जाता है कि जिसमें दो-चार बार यह सुनने को न मिले कि महाराज आप पहले से बहुत दुबले हो गये। क्या स्वास्थ्य ठीक नहीं है। शरीर की इस प्रकृति को देखते हुए लगता है कि कहीं अंत तक सुनने को न मिलता रहे। अधिकांश लोग पौष्टिक भोजन करने के लिये प्रेरित करते रहते हैं धर्म साधना के लिये नहीं, अपितु मोटा होने के लिये। रूप के पुजारियों का यह कृत्य निरंतर मरने के लिये प्रेरित करता हैं, समाधि के लिये नहीं। शरीर से वैरागियों की वर्तमान दशा को देखते हुए लगता है अन्त तक हीन भावना से मुक्त नहीं हो सकते, लोगों की उपेक्षा के शिकार बने रह तो।

80 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, खिला खिलाकर काम निकाले मानव यंत्र समान।

साधक इस शरीर को आधुनिक यंत्रों के सदृशमान कर इससे काम ले, क्योंकि यह उन्हीं की तरह होता है। अन्तर इतना ही है कि उनके कलपुर्जों के घिसने/खराब हो जाने पर उनका बदल देना जितना सहज एवं संभव है वैसा शरीर के अंगोपांगों को नहीं। जिनके पास यंत्र हैं और जो उनका उपयोग करते हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि यंत्र से जितना अधिक काम लिया जाये उतने जल्दी घिस जाते हैं, अत: श्रम की दृष्टि से इनका अनुकरण मानव एवं पशु के शरीर के साथ नहीं करना चाहिये, न हो ही सकता है। एक बुजुर्ग कह रहे थे - यह बैल पच्चीस वर्ष का हो गया। हमने कहा - बहुत जिया। कहने - लगे - ट्रेक्टर आ गया अन्यथा दस वर्ष भी पूरे नहीं कर पाता। बिल्कुल भी काम न लिया जाये तो आलसी हो जाता है यन्त्रों में जंग लग जाने की तरह। नीतिकार कहते हैं - 'चलो-फिरो थको मत'। थकान का अनुभव हो रहा है का मतलब शक्ति का उल्लंधन निश्चित रूप से हुआ है। यंत्रों का चलना उनके योग्य खनिज आदि के तेल पर निर्भर करता है। तेल देते जाओं और उनसे जितना चाहे काम लेते जाओ। पर्याप्त खुरांक देते हुए भी आवश्यकता या क्षमता से अधिक काम लेने पर समय से पहले तो खराब होते ही हैं साथ ही घटिया तेल देने से भी घिस जाते हैं। असंयमी मिथ्या दृष्टि की ठीक यही स्थिति होती है। इस शरीर को दिन-रात खिला-पिलाकर चौबीम घंटे काम लेना चाहता है और यह शरीर जितना काम दे मके उतना लेता भी है। पापानुबंधी पुण्य जब तक साथ देता है तब तक अंगोपांग चलते रहते हैं, लेकिन घिसकर भी घिसते हुए समझ में नहीं आते। अत: खाता जाता है और काम लेता जाता है। अर्थ पुरुषार्थ में तो लगाये ही रखता है काम पुरुषार्थ में भी लगाये रखता हैं।

कुछ ऐसे भी पापानुबंधी पुण्यात्मा होते हैं जो शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के परिश्रम न करते हुए भी या न के बराबर करते हुए भी काम पुरुषार्थ की अधिकता से वैसा कर बैठते हैं। जिव्हा लपटता के कारण रसवान पदार्थों के सेवन से उनके शरीर के पुर्जे (अंगोपांग) घिसते तो नहीं जाम अवश्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ को तो अवसर ही नहीं मिल पाता चालू करने का और यंत्र ही बदलना पड़ता है। कुछ को अवसर मिल जाये अंगोपांग बदलने का तो जीवन भर इच्छित वस्तु के लिये तरसना पड़ता है।

अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जो धनहीनता के कारण, अंगोपांग सहजता से काम करते रहें उसके लिये आवश्यकतानुसार भोजन नहीं दे पाते फिर भी अर्थ एवं काम पुरुषार्थ से पीछा नहीं छुड़ा पाते और समय से पहले ही अपने अंगोपांग खराब कर देते हैं जिन्हें बदलना सम्भव नहीं है। अधिकांश मानसिक श्रम की अधिकता से वैसा कर बैठते हैं

'चिन्ता चिता से बढ़कर है' के अनुसार। हृदय गति रुक जाने का यही एक कारण है।

'अति सर्वत्र वर्जयेत' चेतन अचेतन सभी के लिये लागू होती है यह युक्ति। खासकर गृह त्यागी साधु के जीवन में अर्थ पुरुषार्थ संबंधी शारीरिक एवं मानसिक श्रम सर्व प्रकार से एवं हमेशा के लिये घूट जाता है। वासना संबंधी काम पुरुषार्थ भी हमेशा के लिये छूट जाता है, अतः उपरोक्त श्रम से होने वाले अंगोपांगों का घिसना/खराब होना रुक जाता है एवं रसवान पदार्थों के सेवन न करने से अंगोपांगों का असमय में जाम होना भी रुक जाता है। लेकिन समय-समय पर किये जाने वाले धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ रूप उपवास/अवमोदर्य/रस परित्यागादि एवं कभी भी आ जाने वाले भोजन संबंधी अंतराय से अंगोपांग समय से पहले ही खराब हो जाते हैं। हर क्षण समाधि के साधक आत्मा को प्रतिकूलताओं का जीवन में आना या प्रतिकूलताओं में चलाकर जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में शरीर यंत्र का समय से पहले घिस जाने पर भी वैसा हो जाने की चिंता नहीं होती।

81 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, हाँ, निजी में मरण समाधि में किराये का मकान

मकान दो प्रकार के होते हैं - (1) निजी (2) किराय का। लौकिक दृष्टि से जिसके पास निजी मकान होता है वह उच्च दृष्टि से देखा जाता है, लेकिन किराये के मकान में रहने वाला हीन दृष्टि से देखा जाता है। परमार्थ दृष्टि इससे विपरीत है। शरीर भी, संसारी आत्मा को रहने के लिए एक मकान के ही सदृश है। भेदज्ञानी उसमें किराय का मानकर रहता है और अज्ञानी निजी मानकर रहता है। यह ज्ञानियों की दृष्टि में हीन दृष्टि से देखा जाता है जबकि किराये का मान कर रहने वालों को बहुमान/समान की दृष्टि से देखते हैं। स्वयं के विषय में तो कोई कह भी सकते हैं कि हम क्या मान कर रह रहे हैं, लेकिन दूसरों के विषय में/बारे में कैसे जाना जाये कि वह क्या मानकर रह रहा है ? उसके आचरण से जाना जा सकता है। किराये के मकान में रहने वाले के भोकृत्व बुद्धि तो होती है, लेकिन कर्तृत्व एवं स्वामित्व बुद्धि नहीं होती। इसलिये झाड़ा-पोंछी, लीपा-पोती के अतिरिक्त किसी की भी चिन्ता नहीं होती कि यह कहीं से गिर रहा है, उधड रहा है, दरार आ गई है इत्यादि, लेकिन मकान में जिसके भोक्तृत्व, कर्तृत्व और स्वामित्व बुद्धि होती है उसे पूरी-पूरी चिन्ता रहती है। "उत्तमा स्वात्म चिंता स्यात् देह चिंता च मध्यमा, अधमा काम चिन्ता स्यात् पर चिंता धमाधमा" इस श्लोक के अनुसार देह को निजी मानकर रहने वाले आत्मा को छोड़ सभी चिंताओं से ग्रस्त होते हैं। इसकी अभिव्यक्ति उसे रात-दिन खिलाने-पिलाने, सुलाने, नहलाने-धुलाने आदि से होती है। 'समाधि समीक्षा' का प्रकरण है, अतः कहा जा

सकता है कि किराये का मानकर रहने वालों को शेष दो चिन्ताएं तो होती ही नहीं, देह चिन्ता भी अल्प समय के लिये हुआ करती है जिसे मध्यम कहा है जो आत्म चिंता में सहायक है ? देह के प्रति हम बचपन से ही लापरवाह रहे हैं इसलिये तो सुनना पड़ता था कि तुम्हें अपनी देह की चिंता नहीं है तब दूसरों की क्या होगी। यह बात, हम समझते हैं दोनों दृष्टि से सही है। लोक व्यवहार में निंद्य स्वार्थ की अपेक्षा और परमार्थ दृष्टि से प्रशंसनीय स्वार्थ की अपेक्षा।

82 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, नहीं बहाना बना सकोगे कान खोल सुनलो श्रीमान।

मकान की तरह देह में कैसा भी मान कर रहो एक दिन छूटना तो अवश्य है। एक वयोवृद्ध से पूछा - घर से सीधे-सीधे निकलना है या आड़े-टेड़े ? कहने लगे – किस्मत में जैसा लिखा होगा। हमने कहा - एक में निकलना होता है और दूसरे तरीके में निकाला जाना। खाली करने का कहा जाने पर किरायदार के मकान मालिक से प्रार्थना करने पर भले ही वह दूसरा मिलने तक उसी में रहने की अनुमति दे दे, लेकिन देह से निकालने का जिस समय आदेश हो जाये अर्थात् आयु कर्म समाप्त हो जाये तो एक क्षण रहने की भी प्रार्थना स्वीकार नहीं होगी। शासकीय नियम के अनुसार कोई भी मकान मालिक किरायदार को बरसात के समय निकाल नहीं सकता, लेकिन इस कानून की भी यहाँ नहीं चलेगी। विपत्ति की घड़ी हो या सुख की, दिन हो या रात, किराया (भोजन) समय पर दिया जा रहा हो या नहीं, खाली करना ही होगा। यहाँ यह कहकर भी तो खाली करने में आना-कानी नहीं की जा सकती कि हम वर्षो से रह रहें हैं इसलिये खाली नहीं करेंगे। यहाँ भी सरकार का सहयोग भी सहायक नहीं बन सकता है और न स्वयं की अकड़ चलेगी। यहाँ यह कहकर भी तो टाला नहीं जा सकता कि अमुख व्यक्ति अपने शरीर में सैकड़ों वर्ष से रह रहा है उसने उसे अभी तक खाली नहीं किया तब हम दस-पचास वर्ष में ही कैसे खाली कर दें। पहले भी लोग हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष तक इसे खाली नहीं करते थे। एक मकान में रहने वाले अनेक किरायदारों में से किसी एक को खाली करने का आदेश दिया जाये तो वे कहते हैं कि दूसरे किरायदार करेंगे तो हम कर देंगे। यहाँ यह बहाना भी नहीं चलेगा, क्योंकि यह निगोदिया जीवों का शरीर नहीं है, प्रत्येक शरीर है।

मकान मालिक एक व्यक्ति से भले ही खाली कराले स्वयं के बल पर, लेकिन किराये के लोभ में बहुतों को किरायदार बना लेने वाले ये मकान मालिक प्राय: ठगाये जाते हैं उनकी नहीं चलती किरायेदारों के अनुसार चलना होता है। परिणाम यह होता हैं कि नाम

मात्र ही किराया और नाम मात्र ही रह जाता है। यहाँ यह दादागिरी भी नहीं चल सकती किरायदार की। इस मकान मालिक (कर्म) को इतनी सुविधा अवश्य होती है कि इस मकान में एक ही किरायेदार रह सकता है फिर खाली कराने में दिक्कत क्या है।

महंगाई के हिसाब से समय-समय पर किराया बढ़ाया जाना उचित भी है। जिनकी सामर्थ्य नहीं है, वे बढ़ाकर दे ही नहीं सकते। जो दे सकते हैं वे भी नहीं देना चाहते। मांगने पर मारने की धमकी देते हैं अर्थात् न बढ़ाकर देते हैं और न खाली करते हैं। कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो देते ही नहीं और बने रहते हैं। कुछ तो इस शर्त पर किराया बढ़ाकर देते हैं कि हमे अमुक सुविधाएं चाहिये। यहाँ यह कहकर भी तो मकान (शरीर) में बना नहीं रह सकता कि दिनोंदिन मनमाना अच्छे से अच्छा भोजन (किराया) दे रहा हूँ इसलिये खाली नहीं करुँगा। कुछ मकान मालिक ऐसे होते हैं जिनकी आजीविका किरायदारों के किराय पर ही निर्भर होती है। शरीर की भी ठीक यही स्थिति है। बिना किराया दिये भले ही मकान में इच्छित समय तक रहा जा सकता है, तीर्थंकर जैसे महापुरुषों की तरह। हम जैसे शरीरधारी इच्छित समय तक नहीं रह सकते किराया (भोजन) दिये बिना। अधिकांश मकान मालिक भी तो ऐसे होते हैं जिन्हें किराया न भी मिले तो भी कोई फरक नहीं पड़ता उत्तम सहनन के धारकों की तरह। सारांश यह है कि वर्तमान इस शरीर को भोजन न देने पर तो खाली करना ही होगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि यहाँ देते हुए भी खाली करना पड़ता है। इस बात से हम सहमत हैं कि किराय के अनुसार पर्याप्त सुविधाएं भी होना चाहिये। सुविधा न बढ़ाते हुए किराया बढ़ाते जाना यह अनुचित बात है। हर क्षण समाधि का इच्छुक शरीर को उतना ही किराया देगा, वैसा ही देगा, इतने समय तक ही देगा जब तक साधक की साधना में सुविधा देता रहेगा। अन्यथा ये पड़ा मकान और ये चला मैं।

खासकर धार्मिक संस्थायें जो बहुत समय से किराये पर दे रखी हैं उन्हें खाली कराना किसी भी पदाधिकारी के वश की नहीं है। जिनके निजी मकान बन गये हैं तव भी वे उसे छोड़ना नहीं चाहते। छोड़ना भी पड़े तो अपने निकट संबंधियों को दे जाते हैं उतने ही किराये पर या किसी अन्य को देंगे तो पगड़ी ले लेंगे। किसी के आगे-पीछे कोई न हो तो वह अपने मकान को प्राय: मंदिर को दान कर जाते हैं, लेकिन उपरोक्त छल-छंद शरीर के साथ नहीं हो सकते। वर्तमान इस आधुनिक युग में लोग जीते जी या मरने से कुछ ही समय पूर्व अंगों का दान देते हैं उनकी निश्चित रूप से मौत ही होती है समाधि नहीं। उस समय लगता है उसने शरीर को निजी मानकर मकान का एक हिस्सा दान में दिया हो। किराय का मान रहा होता तो उसे अधिकार ही नहीं वैसा कुछ करने का, जैसे बनाने का नहीं है।

शरीर में निजी मानकर रहने वाला उसका नामकरण करता ही है साथ ही अंदर नहीं तो बाहर कितने अच्छे ढंग सजाता है मकान मालिक की तरह। किरायेदार तो चाहते हुए भी सजा नहीं पाता। पता नहीं कब खाली करना पड़े। सारी मेहनत व्यर्थ चली जायेगी, समय बर्बाद होगा वह अलग।

खेर मकान किराये का हो या निजी उपकारी तो होता है। रहने वाला उपकार माने या न माने यह उसके ऊपर निर्भर है। देहधारी आत्मा के ऊपर जो देह आदि हैं, वे उपकार हैं पुद्गल के। इनसे उपकृत होना मानना तभी सार्थक है जब इन्हें किराये के मानकर चला जाये। निजी मकान मान कर चलने पर समय, असमय कभी भी छूटने पर दुःखदायी होते हैं।

83 क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, पैर दवाना वैयावृत्ति दे न सकेंगे कोई दान।

सुना है - पहलवानों का बुढ़ापा एवं मरण बहुत दुःखदायी होता है। कारण के विषय में सुना है - दण्ड, कुस्ती कसरत एवं एक दूसरे की एक दूसरे के द्वारा तेल मालिश आदि से की जाने वाली सेवा (वैयावृत्ति)। लेकिन वृद्धावस्था में तेल मालिश करने, करवाने के अतिरिक्त और कुछ न कर सकने की स्थिति में आदी होने के नाते कष्ट का अनुभव करते हैं। ठीक यही स्थिति मोक्षमार्ग में साधक की होती है। इस समय मैं अच्छी तरह जान रहा हूँ कि मुझे प्रतिदिन वैयावृत्ति की कतई आवश्यकता नहीं है फिर भी अनावश्यक वैयावृत्ति से छुटकारा नहीं मिल पा रहा है। इसे में स्वयं की ही कमजोरी मानता हूँ। कोई एक समय भी तो निश्चित नहीं है। जो जब चाहे करना मना नहीं कर पाता। जबकि जान भी रहा हूँ कि इस ढील का परिणाम अच्छा नहीं है न आगे होगा। करने वालों को इसकी चिन्ता है और न ज्ञान। वैयावृत्ति से साधक को साधना में सहायता मिलेगी ऐसी अपेक्षा न के बराबर लोगों को होती है। मुझे पुण्य लाभ मिलेगा इस अपेक्षा से करने वाले बहुत लोग मिल जाते हैं। मना करने पर यही कहते हुए सुनने मिलता है - आपको नहीं हमें आवश्यकता है। रात्रि में वैयावृत्ति कराने की परंपरा न जाने कब से चल पड़ी है। विशेष परिस्थितियों को छोड़कर रात्रि में सेवा न कराने से करने के इच्छुक लोगों से सुनना होता है कि आप नहीं करायेंगे या नहीं कराते हैं तो आपकों ही दोष है, क्योंकि इतने समय का भी दुरुपयोग होगा यहाँ-वहाँ की बातों में लगे रहने से। इन्हें साधुओं के हिताहित का कहाँ ख्याल है।

इस समय 'वैयावृत्ति' यह शब्द हाथ-पैर दबाने आदि के लिये रूढ़ हो गया है जबकि समंत भद्र स्वामी ने 'दानं वैयावृत्तिं...इत्यादि कहकर दानादि से लेकर साधुओं की जितनी कुछ सेवा करना है उसे वैयावृत्ति शब्द से कहा है। दान को वैयावृत्ति ही न मानने के

कारण आहार लेते समय देने वाले की शुद्धता की जितनी खोज-बीन की जाती है उतनी शरीर की सेवा कराते समय नहीं। हर किसी से सेवा स्वीकार करने का प्रभाव भी तो साधुओं के ऊपर पड़ता होगा। यही कारण समझ में आता है कि चाहते हुए भी विशुद्धि नहीं बढ़ा पाते। तत्काल प्रभाव समझ में नहीं आता कि भावों में विशुद्धि न आने का कारण यही है, अनुमान अवश्य लगा लेते हैं और विशुद्धि न होने के कारण अयोग्य व्यक्तियों से सेवा स्वीकारने में परहेज नहीं कर पाते। आक्षेप सुनने को भी तो नहीं मिलता कि आप सेवा करा लेते हैं, आहार क्यों नहीं लेते ?

सामायिक करके लेटे हुए थे। जैसे ही नींद खुली। जुखाम के कारण हाथ नासिका की ओर चला गया। हाथ से सिगरेट की गंध आई। मैं विचार में पड़ गया कि सिगरेट मैंने पीयी नहीं गंध कैसे आ रही है। वैयावृत्ति कर रहे व्यक्ति का हाथ सूंघा और इशारे से कहा, कम से कम हाथ तो धो आया करें। दूसरे दिन हमने उससे कहा - अन्य सेवक सेवा करते हुए हमारा हाथ सूंघ लेता तो संदेह में तो पड़ ही जाता कि महाराज सिगरेट पीते हैं क्या ?

वैयावृत्ति कराने के आदी साधु सेवक की पात्रापात्रता का ख्याल रखे यह कोई जरुरी नहीं है साथ ही राग-द्वेष से भी नहीं बच सकता, यदि आदत के अनुसार अनुकूलतायें न मिलें तो, क्योंकि कहीं ढंग से सेवक मिलते हैं कहीं नहीं भी मिलते हैं। कहीं रुचि होती है कहीं नहीं भी होती। एक संघ में अनेक साधु हों तो सेवकों का पक्षपात स्पष्ट रूप से देखा जाता है। इस पक्षपात रूप व्यवहार से वैयावृत्ति कराने का आदी राग-द्वेष से बचा रहे यह सम्भव नहीं है।

भक्त प्रत्याख्यान मरण में स्व-पर दोनों से सेवा करने कराने का विधान है। अब विचारणीय है कि सेवा स्वयं से करने एवं दूसरों से करवाने का विधान संकल्प पूर्वक शरीर त्याग के समय के लिये ही है या जब कभी के लिये ? हम उस समय की प्रतीक्षा में हैं जब अनावश्यक वैयावृत्ति से छुटकारा मिले जो समाधि में बाधक है।

V सेवा, संबोधन काण्ड

84. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, सेवा करते उल्टी होती कर क्या सकेंगे सावधान।

जो देह त्याग का संकल्प ले लेता है। उसे शास्त्रीय भाषा में क्षपक कहते हैं। प्रसंगवश रोगी एवं बालक भी कहा जा सकता है। विधिपूर्वक देह त्याग में मुख्य रूप से

सहयोगी बनने वाले को शास्त्रीय भाषा में निर्यापक कहा गया है, वैद्य भी कहा गया है और प्रसंगवश माँ भी कह सकते हैं। शेष सहयोगियों को परिचारक जिन्हें आंग्ल भाषा में कम्पाउंडर, नर्स वगैरह कहते हैं। सभी जानते हैं कि गोद में खेलने वाला बालक माँ की भाषा को समझता नहीं है फिर भी वह उसकी सेवा करते हुए उससे समय-समय पर बात भी कर लेती है। सभी इंद्रियों के होते हुए भी मन के अविकास के कारण इशारे के अतिरिक्त और कुछ भी समझ नहीं सकता। क्षपक की स्थिति बालक से कुछ भिन्न होती है - मन की स्थिति ठीक होते हुए भी इंद्रियाँ क्रमश: शिथिल होती जाती हैं। जिनके बिना मन पंगू हो जाता है, समझने में। यह बात यहाँ इसलिये कही जा रही है कि जिनका उल्लेख किया जाने वाला है वे क्षुल्लिका हमारे संघ में अचेत अवस्था में आई थीं। उपचार के बाद कुछ-कुछ सचेत अवस्था में आने पर भी हम उन्हें संबोधन करने में उत्साहित नहीं होते थे। इसे हम अपनी ही कमजोरी मानते हैं, क्योंकि हमे विश्वास नहीं होता था कि जो कुछ हम सुना रहे हैं उसे ये ग्रहण कर रही हैं या नहीं। प्रतिदिन का अनुभव है कि श्रोता रुचि न ले रहे हों सुनने में तो बोलने में उत्साह ही नहीं होता। बालक देखता है इसलिये भी माँ उत्साहित होती है क्षपक देखे भी न तो ?

क्षपक को न मात्र सेवा से ही स्थिर रखा जा सकता है और न मात्र संबोधन से ही। उसे तो दोनों ही आवश्यक हैं, अत: निर्यापक में दोनों ही गुण होना चाहिये, लेकिन देखा यह जाता है कि किन्हीं साधुओं में सेवा भाव होता है तो किन्हीं में संबोधन की कला। सबसे पहले सेवा पर विचार करें एक घटना के माध्यम से -

विगत वर्ष से पहली क्षुल्लिका माता जी की समाधि का सौभाग्य मिला अनुभूतियों के साथ-साथ। णमोकार मंत्र सुनाकर सचेत होने/बने रहने के लिए प्रयास करने वालों की संख्या अधिक ही थी इसके अतिरिक्त और कुछ सुनाकर एवं सेवा करते हुए सावधान करने वालों की अपेक्षा। सेवा में रत रहने वालों से एक मां जी निवेदन कर रही थीं- हमें भी माता जी को णमोकार मंत्र सुनाकर पुण्य लाभ ले लेने दो। सेवकों ने कहा अच्छी बात है सुना लेना। इसके पहले माता जी की साड़ी गंदी हो गई है इसे बदल दो, साफ कर दो, माता जी की शुद्धि कर दो। कहने लगी- यह काम हम नहीं कर सकते। क्यों? कहने लगी- हमें तो उल्टी (कै) हो जायेगी। सेवकों ने कहा तब तो तुम कान में मुंह लगाकर णमोकार मंत्र भी नहीं सुना सकतीं; क्योंकि उनके मुंह से दुर्गंध आ रही है, अत: उल्टी हो सकती है। जिन धर्मात्माओं के निकट होने की साधक भावना भाता है उनकी स्थिति एक डॉक्टर जैसी होती है उपरोक्त णमोकार मंत्र सुनाने वालों जैसी नहीं अथवा क्षपक की बेटे एवं सेवकों की मां जैसी स्थिति होती है। उपरोक्त मां जी से पूछा जाता कि बेटे की मल-मूत्र शुद्धि के

समय कितने बार उल्टी हुई ? शायद है किसी मां को स्वप्न में भी हुई हो। अधर्मात्माओं को झूठे संबंधों में जितनी आत्मीयता होती है सहधर्मियों के प्रति नाम मात्र भी नहीं होती। जिस व्यक्ति के अन्दर से जब तक ग्लानि न निकल जाये तब तक वह चिकित्सक नहीं बन सकता। डॉक्टर बन भी जाये तो डॉक्टरी कर नहीं सकता, अत: डॉ. बनने तक ग्लानि मुक्त कर दिया जाता है। पूर्व संस्कार भी काम करते हैं जैसे मां के बेटे की प्रति घृणा रहित संस्कार पूर्व पर्याय गत होते हैं। डॉक्टर की तरह संस्कारित नहीं कराया जाता। जैसा भी हो स्वार्थ मय तो होता ही है। ऐसे भी डॉक्टर देखे गये हैं जो पैसे की आशा से कैसा भी (शाकाहारी, मांसाहारी) मरीज क्यों न हो, कैसी भी स्थिति में क्यों न हो ग्लानि रहित उपचार किया करते हैं, लेकिन वे ही साधुओं के धूल धूसित शरीर को देखकर ग्लानि करते हैं। किसी की क्या कहें अभी तक हम ग्लानि रहित उस अवस्था को प्राप्त नहीं हुए जिसे प्राप्त कर लेना था।

एक मां जी मरणासन्न अवस्था में थीं। लोगों ने निवेदन किया आपके द्वारा संबोधन हो जाये। हमने एक मुनिश्री को वैसा करने को कहा। लौटकर आने के बाद एक युवक कहता है - मुझे तो उनकी स्थिति देखकर बड़ा अजीब सा लग रहा था। मै तो इन लोगों से कह रहा था चलो जल्दी यहाँ से। हमने कहा - तुम्हारी मां भी किसी दिन इसी स्थिति में पहुंचेगी तब क्या करोगे ? घर छोड़ दोगे या उन्हें घर से निकाल दोगे। जब किसी के घर में आग लगती है तो उसे सर्वथा नष्ट होने से जिस किसी तरह बचाने के लिये अपना-पराया, गरीब-अमीर, दुर्जन-सज्जन एवं यहाँ तक की दुश्मन-दोस्त तक का भेद भी नहीं रहता, अपितु मकान नहीं तो सामान सुरक्षित बचा लेने का उद्देश्य होता है।

85. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, प्रतिकूलता में सम्हल जाये झांक लेव ग्रेबान

मालिक का नौकर को डॉटना उचित भी है यदि वे उनके कार्य में लापरवाही बरतें या ठीक से कार्य न करें तो, गुरु का शिष्य को डांटने का अधिकार है, यदि अनुकूल न चले तो, लेकिन साधक का नि:स्वार्थ सेवा करने वालों को डांटने का अधिकार नहीं, यदि सेवा में लापरवाही बरतें या सेवा ठीक से न करें तो। माता-पिता की, रोगी की उचित सेवा न होने पर मरने की इच्छा कर लिया करते हैं। असंयमी होने के नाते ये तो क्षम्य है। लेकिन सल्लेखना व्रतधारी के लिये क्षम्य नहीं है अर्थात् अतिचार है, सदोषता है। जबकि लापरवाही बरतने वालों को दोषी न ठहरा कर अपने को ही दोषी ठहराना चाहिये, अपने

आप को ही उदाहरण के रूप में लेकर। जैसे अनुकूलता-प्रतिकूलता में अपने को ही जिम्मेदार ठहराने वाले, आहार दान देने में लापरवाही बरतने, करने वालों को यह विचार कर दोषी नहीं मानते कि घर में रहते हुए मैंने अतिथि संविभाग के नाम पर कभी किसी को एक दाना भी नहीं दिया। दिया भी हो किसी को। हमारे साथ किसी के द्वारा बरती गई लापरवाही का बदला किसी अन्य के साथ लापरवाही बात कर लेना सर्वथा अनुचित है। आहार दान में लापरवाही बरतने वाले वे ही व्यक्ति तो नहीं हो सकते जिन्हें तुमने कभी आहार दान दिया था। उसी प्रकार सोचना चाहिये कि समाधि के संकल्प से संकल्पित किसी साधक की साधना में मैंने सावधानीपूर्वक सहयोग नहीं किया फिर किस मुंह से कहूँ या समझूं या क्रोध करुं कि ये हमारे साथ लापरवाही बरत रहे हैं। मान लीजिये किसी की समाधि में मैंने सावधानीपूर्वक सहयोग दिया भी हो, लेकिन वे यही तो नहीं हैं जो तुम्हारे साथ लापरवाही बरत रहे हैं जिन पर की में क्रोध करुं या जल्दी से जल्दी मरने पर विचार करने लगूं। यह तो हुई क्षपक को समझ लेने की बात।

86. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, हत्यारा वह माना जाये करना चाहे धन, यश पान

तीव्र सक्लेशता की स्थिति में क्षपक/साधक का आचार्य व अन्य सहयोगियों के साथ दुर्वचन आदिमय दुर्व्यवहार हो सकना संभव है जैसे तीव्र वेदना की स्थिति में रोगी का डॉक्टर के साथ गाली-गलोच, मार-पीट व्यवहार तो होता सुना ही गया है। अत: सहनशील होना परम आवश्यक है सहयोगियों के लिये।

किसी व्यक्ति को शिष्य बनाते समय गुरु को उसकी परीक्षा करने का जितना अधिकार है उतना ही अधिकार शिष्य को भी है गुरु की परीक्षा करने का। उसी प्रकार निर्यापक एवं क्षपक के विषय में समझना चाहिये। यदि एक दूसरे की एक दूसरे ने परीक्षा नहीं की तो पश्चाताप ही हाथ लगेगा। शिष्य को तो सम्हलने का अवसर रहता है गुरु को भी रहता है विवेक जाग्रत होने पर एक दूसरे की अयोग्यता का परिचय मिलने पर संबंध विच्छेद करने का, लेकिन क्षपक एवं निर्यापक की स्थिति में नहीं रहता, अयोग्यता का परिचय मिलने पर संबंध विच्छेद करने का।

एक अस्पताल में एक ऐसा रोगी आया जिसका कोई संबंधी नहीं था। डॉक्टर परेशान था। अपनी योग्यता के अनुसार सभी उपाय अपना चुका था, लेकिन मरीज को कोई लाभ नहीं हो रहा था। उसने उसे विष का इंजेक्शन लगा दिया और भंगी से कह दिया- अमुक पलंग का मरीज मर जायेगा। उसे सुबह उठाकर ले जाना। भंगी ने सुबह देखा वह पलंग

खाली था। वह डॉक्टर के पास पहुंचा। पलंग खाली होने की सूचना दी। डॉक्टर जब वहाँ पहुंचे तो वह पलंग पर बैठा था - कहने लगा आपने बहुत अच्छा इंजेक्शन लगाया। मुझे बहुत आराम है। डॉक्टर ने पूछा अभी कहाँ गये थे ? कहने लगा - हाथ मुंह धोने के लिये जबकि उसकी हिलने तक की शक्ति नहीं थी इंजेक्शन देने से पहले। इस घटना का आशय मात्र इतना ही है कि क्षपक का भी कोई संबंधी नहीं होता. अतः निर्यापक की अयोग्यता का परिचय क्षपक को होने पर भी उसका परित्याग करना संभव नहीं होगा यदि उठने-बैठने यहाँ तक की, बोलने तक की सामर्थ्य न हो तो। जिसे निर्यापकाचार्य की अयोग्यता का ज्ञान ही नहीं है उसकी समाधि उसके भाग्य पर निर्भर है उपरोक्त मरीज के समान।

अधिकांश डॉक्टर ऐसे भी होते हैं जो धन एवं यश पाने के लोभ में ऐसे मरीजों की जिम्मेदारी अपने हाथों में ले लेते हैं जिन्हें ठीक करना उनके वश की बात नहीं है। उचित उपचार के अभाव में रोगी जीवन से हाथ धो बैठता है। "समाधि सम्राट" जैसी उपाधि पाने के लोभ में समाधि कराने जैसी महान् जिम्मेदारी अपने हाथों में ले लेते हैं, वे साधु जिनके रग-रग में लोक पूजा (लौकेषणा) छुपी रहती है। अन्तर इतना ही है कि क्षपक मरा है या समाधि हुई है यह दिखने में नहीं आता। अतः क्षपक मरा भी हो तो उसके ऊपर केश नहीं चलता जैसा कि डॉक्टर के ऊपर केश चला देते हैं उसके संबंधी लोग। समीक्षा के आदि में ही कहा जा चुका है कि किसी गृहस्थ के श्रावक या साधु बनते ही समाधि प्रारंभ हो जाती है। ऐसी स्थिति में शिष्य अपने आप को क्षपक एवं गुरु अपने आप को निर्यापक मान करके चले तो अन्त में इतने परावलम्बी होने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी जितनी पड़ती है।

87. क्या समधि धर्म महान ?
नहीं, प्रासंगिकता उपादेय है, नीम हकीम खतरे में जान।

डॉक्टर या वैद्य का लक्ष्य एक मात्र शरीर को नीरोग बनाये रखने एवं सुरक्षित रखने का होता है। आत्मा के हिताहित मे कोई प्रयोजन नहीं होता, इसलिये अंतिम क्षण तक औषधि के रूप में कुछ न कुछ ग्रहण कराते ही रहते हैं। कोई अचानक बीमार हो और चल बसे तो लोगों को असंतोष होता है कि सेवा का अवसर ही नहीं दिया।

करीब पांच वर्ष पूर्व एक टेप सुना था- एक आचार्य निर्यापक की हैसियत से क्षपक को संबोधन कर रहे थे। उनके उस संबोधन से ऐसा लग रहा था कि वे अपनी विद्वता का प्रदर्शन कर रहे हों। एक अनभ्यासी वक्ता के समान। संबोधन का विषय पूर्व से ही तैयार किया गया था। उनके बोलने की टोन से ऐसा भी प्रदर्शित हो रहा था कि साधक का मनोरंजन किया जा रहा हो। कुल मिलाकर वह संबोधन साधक के हित में नहीं था। जैसे

पहले से तैयार करके बोला गया उपदेश प्रासंगिक हो यह कोई आवश्यक नहीं है। संयोग वश हो भी सकता है, क्योंकि श्रोता सैकड़ों, हजारों और लाखों भी होते हैं, अतः किसी के लिये प्रासंगिक हो सकता है। लेकिन यहाँ साधक एक ही होता है। उसकी मानसिकता प्रतिक्षण एक सी बनी रहे यह कोई आवश्यक नहीं है, अतः उसकी क्षण-क्षण में बदलती हुई मानसिकता का ध्यान रखते हुए या अनुमान लगाते हुए संबोधन हो तो दोनों के लिये सार्थक होगा। वक्ता का श्रोता के ऊपर प्रासंगिक उपदेश का जो असर/प्रभाव पड़ता है, पूर्व से तैयार किये या रटे रटाये का नहीं। जैसे पंच कल्याण या कोई विधान चल रहा हो तो वर्तमान में पूजा अभिषेक की बिगड़ी दशा को सुधारने का उपदेश प्रासंगिक कहलायेगा। किसी विद्यालय में उपदेश करने का अवसर आये तो शिक्षा की बिगड़ी या बिगड़ती दशा को सुधारने का उपदेश प्रासंगिक कहलायेगा। सामूहिक रूप में हो तो राजनीति की बिगड़ी या बिगड़ती दशा का उपदेश प्रासंगिक कहलायेगा।

चारों अनुयोगों का ज्ञाता ही जान सकता है किस साधक को किस समय किस स्थिति में किस अनुयोग के माध्यम से समझाया जाना चाहिये या स्वयं को किस स्थिति में किस अनुयोग का सहारा लेना चाहिये। ''नीम हकीम खतरे जान'' की तरह किसी एक अनुयोग से अपने को या अन्य साधक को स्थिर नहीं किया जा सकता। रोगी नहीं वैद्य जानते हैं कि किस रोग की क्या दवा है और किसे कितनी मात्रा में कब तक एवं कब-कब देना है। रोग की स्थिति का समय-समय पर निरीक्षण करता हुआ वैद्य दवाओं में परिवर्तन करता रहता है या उसी में कम बढ़ करता रहता है। किसी रोग की लम्बे समय तक एक सी मात्रा में एक ही दवा दे दी जाये और रोग का पुनः निरीक्षण न हो तो उसके दुष्प्रभाव का अनुभव हमने स्वयं ही किया है।

यह तो अकाट्य श्रद्धान है कि पंच नमस्कार मंत्र जैसा दुनियां में कोई मंत्र नहीं है, लेकिन इसका कितनी मात्रा में कब तक, कब-कब श्रवण करना एवं कराना यह निर्यापक आचार्य वैद्य ही जान सकते हैं। जैन धर्म के विषय में कोई कुछ भी न जानता हो जैन होने के नाते नमस्कार मंत्र तो जानता ही है अतः विपत्ति में या परिणामों की संक्लेश दशा में इसी मंत्र का प्रयोग स्व पर के लिये करते हुए देखे जाते हैं मानो हर एक संक्लेश परिणाम रूप रोग की मात्र यही एक औषधि हो। स्वयं के लिये तो ठीक लेकिन दूसरों के लिये दुष्प्रभावी भी हो सकता है। यदि समय एवं सीमा/मात्रा का ध्यान नहीं रखा गया तो। जब तक साधक बोल सकता है या इशारा कर सकता है कि मंत्र की आवश्यकता है या नहीं या इसका इस समय क्या प्रभाव है, तब तक तो ठीक है, लेकिन बोल या इशारा न कर सकने की स्थिति में सुनाये जाने पर कहा नहीं जा सकता है कि उसकी मानसिकता कैसी हो सकती है।

जो पहुंचे हुए साधक होते हैं, उन्हें एक के बाद एक करके णमोकार मंत्र को अखण्ड पाठ की तरह सुनाने की आवश्यकता नहीं होती, जिन्होंने समय सार जैसे द्रव्यानुयोग को जीवन में उतारने का जीवन भर प्रयास किया है। उनसे इतना ही पूछने की आवश्यकता होती है कि किसी प्रकार की आकुलता तो नहीं है अर्थात् धर्म ध्यान ही चल रहा है आर्त रौद्र ध्यान तो नहीं। हो सकता है ऐसे साधकों को जब कभी टोंकना आर्त ध्यान का कारण न बन जाये कि अनिष्ट संयोगी कब टले। हो सकता है कि किसी में इतनी सामर्थ्य सुनने समझने की न रह गई हो जितना हम सुनाना, समझाना चाहते हों। ऐसी समझ के अभाव में किसी का सुनाना/समझाना संक्लेश का कारण हो सकता है। साधक के मना करने पर मंत्र सुनाने वाले ऐसे ही लोग सोच सकते हैं कि इन्हें मंत्र पर श्रद्धा नहीं है इसलिये तो सुनना नहीं चाहते। ऐसा इसलिये सोच लेते हैं कि अधिकांश लोग स्वस्थ दशा में अनिच्छा व्यक्त करते हुए सुने गये हैं अत: साधकों के प्रति भी उपेक्षा के भाव हो जाते हैं इन्हें उन्हीं की कोटि में समझ लेने से।

88. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, नाना विध उपाय अपनायें - करके भावों का अनुमान।

शारीरिक शिथिलता बढ़ती जाती है और कर्म का उदय, उदीरणा पीछा नहीं छोड़ते। चारों प्रकार के आहार त्याग का संकल्प हो जाने के बाद भी खाने या पीने की इच्छा जाग्रत हो जाये। अभिव्यक्त होने पर मात्र यह कह कर ही उसे शान्त नहीं किया जा सकता कि णमोकार मन्त्र स्मरण करो, उसी का सेवन और पान करो। अत: द्रव्यानुयोग का सहारा लिया जाये कि भूख-प्यास शरीर को लगी होगी आत्मा को नहीं और वह खान-पान के योग्य रहा नहीं। अब तो ज्ञानामृत का ही पान करना है। यह भी आवश्यक नहीं है कि द्रव्यानुयोग से उसे समझ में आ ही जाये अत: करणानुयोग से समझाया जाये कि इस समय असाता वेदनीय की उदय/उदीरणा से भूख प्यास सता रही है या आपने खान-पान की वस्तुओं का स्मरण कर लिया है, पेट खाली तो है ही वही कारण है इच्छा जाग्रति का। सफलता न मिलने पर करणानुयोग के दूसरे भेद का सहारा लिया जाता है और याद दिलाई जाती है कि क्या वैसी ही वेदना हो रही है भूख-प्यास की जैसी नरकों में होती है? नहीं। चरणानुयोग से आप आहार ले नहीं सकते और किसी भी तरह से आप लेंगे नहीं। लेते हैं तो साधुता नहीं रहेगी। प्रथमानुयोग में सैकड़ों उदाहरण हैं जिनके माध्यम से समझाकर स्थिर किया जा सकता है। एक वह भी तरीका है जिसे शान्ति सागर जी ने अपनाया था। सल्लेखना संकल्पित मुनि को उनके संकल्प से विचलित करने वाला कर्म या उदय आ

गया। आचार्य श्री को ज्ञात होने पर अन्यत्र जाने का संकल्प छोड़ पहुंच गये वहाँ। आचार्य होते हुए भी मुनि को नमस्कार किया। उन्हें ज्ञात होने पर आश्चर्य हुआ। कहने लगे- आप आचार्य हैं मेरा नमस्कार स्वीकार करें। आचार्य जी ने कहा - जो सल्लेखनारत होते हैं वे सबसे बड़े होते हैं। इतने से ही उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई कि मैं सबसे बड़ा होकर भी खाने-पीने के लिये मांग रहा हूँ। क्षमा मांगते हुए स्थिर हुए और निर्दोष समाधि की याचना करने लगे। हो सकता है इसके पहले णमोकार मंत्र के साथ साथ उपरोक्त सभी उपाय अपना लिये गये हों सहयोगियों के द्वारा, लेकिन निष्फल रहे। आचार्य जी की लघुता सफल हुई।

प्रश्न उठता है कोई साधक किसी भी उपाय से स्थिर न हो पा रहा हो, तब क्या त्यागी वस्तु का ग्रहण करा देना चाहिये ? हाँ करा देना चाहिये अन्यथा संक्लेश परिणामों से मर कर दुर्गति हो सकना संभव है। कोई साधक संकोचवश इच्छा होते हुए भी व्यक्त न कर पाये फिर उसे स्थिर करने का क्या उपाय है ? मुखाकृति से अनुमान लगाकर पूछा भी जा सकता है कि कोई इच्छा जाग्रत तो नहीं हुई अन्यथा सेठ की तरह मेंढ़क हो सकते हो। भूख-प्यास की इच्छा के समान और न जाने कितनी इच्छाएं जाग्रत होती हैं जिनकी पूर्ति न होने पर संक्लेशता होती है।

निर्दोष समाधि का सौभाग्य प्राप्त करने वाले एक आचार्य श्री का कहना था- समाधि के इच्छुक हर किसी को अपने जीवन में तत्त्वार्थ सूत्र का छठवां अध्याय तो अवश्य पढ़ना चाहिये एवं णमोकार मंत्र की तरह रट लेना चाहिये। जिस प्रकार हम विपत्ति के समय णमोकार मंत्र का स्मरण करने लगते हैं उसी प्रकार आठ या एक सौ अडतालीस कर्म प्रकृतियों में से किसी के भी बंध का प्रसंग उपस्थित होने पर बंध को रोकने वाला सूत्र स्मरण में आ जाये। उदाहरण के लिये पर निन्दा एवं आत्म प्रशंसा का प्रसंग उपस्थित होने पर ''परात्मनिदा प्रशंसे'' इत्यादि सूत्र स्मरण में आ जाना चाहिये। जिससे नीच गोत्र के बंध से आत्मा को बचाया जा सके।

''पर उपदेश कुशल बहुतेरे'' के अनुसार अभी तक कई लोगों को यह नियम दे चुके हैं कि उपरोक्त सूत्र की प्रति दिन एक माला फेरा करो, लेकिन प्रसंग आने पर हम स्वयं अपने को उस कृत्य से बचा नहीं पाते। बचा न सकने की स्थिति में जब पश्चाताप होता है तो सोचता हूँ प्रसंग उपस्थित होने पर पापानुबंधी पुण्य की चलती है पुरुषार्थ की नहीं। अन्त समय में यही स्थिति रही तो प्रतिक्षण के समान मरण ही होगा समाधि नहीं। देहाँत के समय में ही नहीं जीवन के किसी के किसी भी क्षण में संकल्प से विचलित होने के समय धर्मात्मा का सानिध्य मिले ऐसी निरंतर भावना होना चाहिये। वैद्यों का लक्ष्य भले

ही शारीरिक स्वास्थ्य का हो लेकिन यहाँ मात्र आत्म स्वास्थ्य का ही होता है इसलिये उन्हें भगवान की वाणी ही औषधि है।

वीरतादि काण्ड

89. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, हाँ कायर में कायरता दिखती वीरों का होता सम्मान।

समंत भद्र स्वामी के अनुसार उपसर्ग आदिचार कारणों में से किसी के उपस्थित होने पर धर्म के लिये शरीर छोड़ देना चाहिये का अर्थ है ग्रहीत व्रतों के पालने में बाधा होने लगे तो शरीर को छोड़ देना चाहिये। वैसे भी साधुओं का अट्ठाईस मूल गुण रूप निर्दोष आचरण प्रत्येक क्षण में होने वाली समाधि का सूचक है।

देश रक्षा के लिये समर्पित उन वीरों का साहस अनुकरणीय है जिन्हें यह ज्ञात हो जाये कि जहाँ जाने या जिस कार्य को करने का आदेश मिला है वहाँ जाने या उस कार्य को करते हुए वीर गति होना सुनिश्चित है फिर भी सहर्ष तैयार हो जाये। ठीक ऐसा ही या इससे बढ़कर साहसी वह है जिसे ज्ञात है कि समाधि के संकल्प में देह का छूटना सुनिश्चित है फिर भी धर्म की सुरक्षा के लिये शरीर को छोड़ने के लिये सहर्ष तैयार हो जाता है जो उसी के अधिकार में है।

संघ में विशेष ज्ञानी माने जाने वाले मुनिश्री जब कुछ अस्वस्थ से दिखाई दिये अर्थात् रत्नत्रय धर्म पर कर्म शत्रुओं का आक्रमण होता हुआ दखाई दिया। गुरु ने उन्हें वीरगति के लिये सावधान किया लेकिन वे उस समय उसके लिये तैयार नहीं हुए, अपितु दृढ़ता से इंकार कर दिया कि छुट-पुट शत्रुओं का आतंक है इनसे तो में जीते जी ही निपट लूंगा और धर्म सुरक्षित कर लूंगा। आखिरकार समाधि के संकल्प बिना ही कायर गति को प्राप्त हो गये। लगा कि वे अपने आपको गुरु से भी दो कदम आगे समझते थे। उसी संघ में अल्पज्ञ साधु जी ने वैसी ही अवस्था होने पर गुरु आज्ञा सहज ही स्वीकार ली और वीरगति को प्राप्त हो गये।

एकल बिहारी साधु चातुर्मस में अस्वस्थ हुए। लोगों ने सलाह दी समाधि की। कहने लगे- अभी मेरी सभी इंद्रियां ठीक तरह से काम कर रही हैं फिर मैं समाधि कैसे लूं। इनके व्यक्तिगत विचारों से लगता है कि जब इंद्रियों में धर्म श्रवण की भी योग्यता न रह जाये तब समाधि लेना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि वे कायरगति को प्राप्त हो गये। साधु पद

पर रहते चूक कैसी ? हो सकता है ऐसा अस्वस्ता जीवन में अनेक बार आ चुकी हो। हो सकता है- स्वतंत्र रहते हुए जैसा वे स्वच्छंद आचरण कर रहे थे उसके पालने में कोई बाधा न आ रही हो इसलिए न छोड़ना चाहते हों। निर्दोष आचरण कर रहे होते और उसमें बाधा आती हो शरीर छोड़ने का विचार सहज कर लेते। जो साधु ऐसे समय में भी एकल विहार को ही उपादेय मानते हों तब क्या वे भावना करते होंगे कि धर्मात्मा निकट हो समाधि के समय। लाखों वर्षों तक जीऊं या मृत्यु आज ही आ जाये, लेकिन मरण उपस्थित होने पर "आ जाये तो घबरा जाये" निकट भविष्य में मरने की सम्भावना न हो तो उपरोक्त प्रथम पंक्ति के अनुसार भावना भाते समय वीरता झलकती है; लेकिन निकट भविष्य में मृत्यु के आसार समझ में आने लगें तो दूसरी पंक्ति के अनुसार कायरता झलकने लगती है। इस समय देखा, सुना जाता है कि बोलियों के माध्यम से धन दान देने को सार्थक समझने वालों के भावुकतावश सब के बीच बोलते समय परम दान वीरता की झलक मिलती है, लेकिन जब तिजोरी खोल कर देने का अवसर आता है तो परम कृपणता की झलक मिलती है। ठीक यही स्थिति उपरोक्त भावना भाने वालों की होती है। ऐसे समय में सामान्य लोगों की छोड़िये आये समय समाधि कराने का श्रेय लूटते रहने वाले आचार्यों के पैर लड़खड़ा जाते हैं अर्थात् स्वस्थ अवस्था में भायी जाने वाली भावना में कितनी सार्थकता वास्तविकता थी और कितना खोखलापन। यह उस समय स्पष्ट हो जाता है जब किसी भी तरह से बचा लेने के लिए दीनता प्रगट की जाती है। किसी विवेकी के पूछे जाने पर कि जीने में इतनी आसक्ति क्यों और मरने का इतना भय क्यों उससे पहले ही सफाई दे दी जाये कि कहीं भी जाये देह के साथ संयम तो छूटेगा ही। देह से एवं जीने से आसक्ति नहीं और न मरने से भय, अपितु संयम से अनुराग है। देह जब तक टिकी रहेगी संयम भी रहेगा। इस पर विचार करें- क्या सदोष औषधि के किसी भी रूप में सेवन से संयम सुरक्षित रहेगा ? संकल्प पूर्वक देह त्याग के समय जितनी सावधानी बरती जाती है साधक एवं सहयोगियों के द्वारा उतनी ही सावधानी जीवन के प्रत्येक क्षण में बरती जाये तो उपरोक्त सफाई देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

भरे पूरे परिवार का जिम्मेदार व्यक्ति मरणासन्न अवस्था में आ जाये तो वह अपने लिये नहीं बच्चों के लिए जीन की भीख मांगता है। उपरोक्त सफाई देने वाले को संयम से अनुराग है इसलिए जीना चाहते हैं या संघ, समाज क्षेत्र उद्धार के लिए जीना चाहते हैं। यह भी तो सफाई देते हुए सुने जाते हैं कि देह के रहते स्वास्थ्य लाभ होने पर पुनः संयम धारण किया जा सकता है, किया जाता है, लेकिन देह छूटने के बाद पता नहीं कब संयम के योग्य देह मिलेगी और कब संयम धारण किया जायेगा ? ऐसी सोच से हम पूर्णतया सहमत नहीं है। हमें विश्वास है कि संयम के लिए देह छोड़ दी जाये तो संयम एवं संयम के योग्य

देह निश्चित रूप से मिलेगी, लेकिन देह के लिए संयम छोड़ दिया जाये तो भगवान मालिक है ....।

90. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, उसी समय तक लेते रहना जब पैरों में है जान।

साधु खड़े होकर आहार लेते हैं इसके महत्व को, रहस्य को नहीं समझने वालों को कोतूहल सा लगता है। हमें खड़े होकर आहार लेते देख एक जैनेत्तर भाई आहार देख रहे जैनों से कहने लगा, - तुम लोग कैसे भक्त हो। महात्मा जी खड़े होकर आहार/खाना खा रहें हैं। अरे, आप लोगों को तो चाहिए बड़े प्रेम से बैठा कर भोजन कराते। सुनकर सभी लोग हंसने लगे। आहार के बाद हमने भक्तों से पूछा-आप लोगों को मालूम है क्या कि जैन साधु खड़े होकर आहार क्यों लेते हैं ? कहने लगे- नहीं। हमने कहा- फिर हंस क्यों रहे थे उसकी बातें सुनकर। क्या अन्तर है तुममे और उसमें ? यही, की तुम देखते और सुनते आये हो हमारे महाराज खड़े होकर ही आहार लेते हैं और वह आज ही देख रहा है। जिसका उपहास किया गया वही कारण पूछने लगे तो आपके पास आना-कानी के सिवाय कोई जबाव नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि साधु उसी समय तक आहार ग्रहण करें जब तक खड़े होकर आहार लेने की सामर्थ्य है अन्यथा समाधि का समय निकट है समझ कर विराम देना चाहिए। दूसरा, रहस्यमय अनुभव की बात यह है कि खड़े होकर खाने में भूख से कम खाना नहीं चाहते हुए भी स्वयं हो जाता है। कैसे ? खड़े होकर लेते लेते लगता है पेट भर गया। बैठने पर स्वत: कुछ खाली अनुभव में आने लगता है। सैकड़ों वर्ष धर्म चर्चा में समय निकाल देने वाले पंडितों का उपरोक्त अनुभव के अभाव में चूक जाना स्वाभाविक है, लेकिन चिर दीक्षित साधु का विधिवत् समाधि से वंचित रह जाना विचारणीय हो जाता है कि पूर्व पुरुषार्थ (भाग्य) में कमी थी या वर्तमान पुरुषार्थ में। दोनों की ही कमी समझ में आती है। शक्ति का उल्लंघन करना या छुपाना। अथवा परहित में अधिक से अधिक समय, श्रम देना आत्महित की अपेक्षा।

पराधीन दु:ख से निरंतर दु:खी रहने वाला नारकी ही एक ऐसा संसारी जीव है जो निरंतर मरना चाहता है, लेकिन समय से पहले मर नहीं सकता। पराधीन सुख से निरंतर सुखी रहने वाले सम्यग्दृष्टि देव भी स्वर्ग से छूटना चाहते हुए भी छूट नहीं पाते। श्रावक या साधु जीवन के आदि से लेकर अन्त तक स्वाधीन सुख प्राप्ति का लक्ष्य दृष्टि में रखते हुए स्वाधीन दु:ख सहने के अभ्यासी हो जाते हैं अत: साधारण लोगों के लिये असहाय वेदना की स्थिति में भी मरने की वाछां नहीं करते।

91. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, चिर दीक्षित होने का मुझे है अभिमान।

''भोगे जो भोग पहले उनका न होवे सुमरण'' यह पहले ही कहा जा चुका है कि ''भोग'' शब्द से मात्र स्पर्शन इन्द्रिय का विषय नहीं लिया जाता, अपितु पांचों इंद्रियों का विषय ग्रहण होता है। ''भोगे हुए भोगों का स्मरण करना'' यह अतिचार है इसका ध्यान समाधि संकल्प के समय ही रखने वालों की दशा उस विद्यार्थी के समान होती है जिसने अपना अधिकांश समय खेलने में निकाला है, पढ़ने की अपेक्षा। परीक्षा के समय वही स्मरण में आता है जिसमें अधिक से अधिक मन लगाया है। जीवन का अधिकांश समय भोगों में उपादेय बुद्धि से निकला हो वह अल्प समय में भोगों में हेय बुद्धि के प्रयास से भी अन्त समय में भोगों के स्मरण से अपने आपको बचा नहीं सकता।

अध्यात्म शास्त्रों मे अन्तर्जल्प एवं बहिर्जल्प शब्दों का उल्लेख मिलता है। बहिर्जल्प प्राय: दो के बीच में होता है, अत: दिखने में आता है। किसी किसी को स्वयं से भी बोलने की आदत होती है, अत: बहिर्जल्प एक के बीच में भी हो जाता है, लेकिन अन्तर्जल्प शब्द रूप न होने से होता हुआ भी सुनने में नहीं आता। अन्तर्जल्प का अवसर गृहस्थों की अपेक्षा साधुओं को अधिक होता है, क्योंकि वे सांसारिक कार्यों से निवृत्त रहते हैं जो कि प्राय: बहिर्जल्प पर ही निर्भर है। यह अनुभव की बात है कि किसी कार्य की सफलता में जितनी स्मरण शक्ति की आवश्यकता है उतनी विस्मरण शक्ति की भी। इसे पुण्यानुबंधी पाप का ही उदय समझना चाहिए कि हम चाहते हुए भी अनात्मीय बातों के स्मरण से पीछा नहीं छुड़ा पा रहे हैं और न आत्मीय बातों को हमेशा स्मरण रख पा रहे हैं ऐसी स्थिति में जिस अंत समय की हम प्रतीक्षा कर रहे हैं उसमें भी इन अनात्मीय बातों से पीछा छुड़ा सकें ? उपरोक्त कर्म के उदय के कारण ही द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावों का निमित्त पाकर अनात्मीय बातें स्मरण का विषय बन जाती हैं। पापानुबंधी पाप का उदय भी अनात्मीय बातों के स्मरण में कारण है। अन्तर इतना ही है कि स्मरण करने के बाद भी या स्मरण हो जाने के बाद भी पश्चाताप नहीं हो पाता अर्थात् अनात्मीय बातों के स्मरण को अच्छा मानता हूँ।

अन्तर्जल्प का मुख्य कारण है स्मरण और यह होता है किसी भी चीज में-तन्मयता से ज्ञान का विषय बना लेने पर। आत्महित में बाधक स्मरण के निमित्तों से निरंतर बचते रहना इस समय हम जैसे साधुओं के लिए कठिन तो है असंभव भी कहें तो आश्चर्य नहीं है। ऐसा स्मरण जिसमें क्रोध, मान, माया एवं लोभ जाग्रत हों किसी के हित में नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए कुन्दकुन्द स्वामी ने उन साधुओं को लक्ष्य में रखकर कहा है जो चिर दीक्षित होने का अभिमान करते हैं- वर्षों की गिनती मत करो, क्योंकि तीन रात्रि के

दीक्षित मुनि भी मोक्ष गये हुए हैं। चिरदीक्षित होने का यह अभिमान प्रतिक्षण होने वाली सल्लेखना में तो बाधक है ही। हो सकता तत्काल इस अभिमान का तिरस्कार न किया तो अंत क्षण में भी स्मरण का विषय न बन जाये।

फुरसत या अस्वस्थ अवस्था में तो लगता है जैसे मन को अवसर मिल जाता हो अतीत की यात्रा करने का। कपोल कल्पनाओं में भी उलझ जाता है कि मैं ऐसा कर सकता था, वैसा कर सकता था, लेकिन कर कुछ नहीं पाया। चाहता तो हूँ कि मैं अपनी सभी कमजोरियों को शब्द का रूप दे दूं, लेकिन अभी साहस नहीं कर पा रहा हूँ लिख कर एवं बोलकर प्रगट करने का। आगे साहस कर सकूं तो अनादि कालीन सुप्त संस्कारों को जाग्रत कर कर्म भार को हलका करने का जो अवसर मिला है उसका कुछ न कुछ लाभ ले सकूं। इस बात का अनुभव भी तो है कि स्वमुख से अपनी कमजोरियां प्रगट हो जाये तो उन्हें निकालने के लिए हर कोई सहयोगी मिल जाते हैं। साधक की वर्तमान दशा को जानकर ही अच्छी तरह से संबोधा जा सकता है।

92. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, लगता है, भूसे के लिए खेती करता किसान।

स्मरणीय पद्मावती विस्मरणीय भगवान।

भूत के भोगे हुए भोगों का स्मरण ही सल्लेखना में बाधक नहीं है, अपितु आगामी भोगों की वांछा रूप निदान बंध भी बाधक है। निदान एक ऐसी बुरी बला है जो महापुरुषों को नारकी नृत्य करा दिया करता है। इतिहास में ऐसा कोई अल्पज्ञ किसान सुनने में नहीं आया जिसने कभी भूसे के लिए खेती की हो और न वर्तमान में कोई ऐसा होगा, क्योंकि वह अनाज प्राप्ति के लक्ष्य के साथ साथ स्वयं प्राप्त हो जाता है, बिना इच्छा के। कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं- अभव्य हो या भव्य मिथ्या दृष्टि धर्म भोगों के लिए करते हैं, कर्मक्षय के लिए नहीं। इनकी दशा उपरोक्त किसान से बद्तर होती है जो सम्यग्दृष्टियों की दृष्टि में भूसा माने जाने वाले सांसारिक सुख के साधनों की प्राप्ति के लिये प्रयास किया करते हैं। जिस धर्म के बल पर साक्षात् एवं परंपरा से अविनाशी सुख को प्राप्त किया जा सकता है उसके बल पर तुच्छ-सी चीज मांग बैठता है, लेकिन निदान से प्राप्त उस सम्पदा का वह आत्म हित के लिए उपयोग नहीं कर पाता रावण की तरह। मुख्य रूप से विचार यह करना है कि निदान बंद रूप अतिचार से अंत समय की समाधि में ही बचना चाहिए अथवा प्रतिक्षण बचने की आवश्यकता है ? 'निःशल्योव्रती' इस सूत्र के अनुसार यदि कोई व्रती है तो किसी भी अवस्था में निदान होगा ही नहीं।

चाहे इह लोक संबंधी वांछाएं हों या पर लोक संबंधी हैं तो निदान ही। हमारी दृष्टि, 'निदान बंध' सुनते ही परलोक संबंधी भोगाकांक्षाओं की ओर चली जाती है, जबकि ख्याति, पूजा, लाभ की चाह निमित्त पाकर जब कभी कौंध जाती है। इसे भी निदान ही समझना चाहिए। यह तो निश्चित है जिसे इह लोक संबंधी चाह हो उसे पर लोक संबंधी चाह होगी ही होगी और जिसे पर लोक संबंधी चाह हो उसे इह लोक संबंधी चाह भी होगी ही होगी। भले ही लोक की चाह के लिए इह लोक संबंधी चाह की उपेक्षा करता देखा जाये।

सरागी देव, देवियों की उपासना इह लोक संबंधी वांछा के बिना हो ही नहीं सकती, अतः उनकी उपासना करने, कराने वाले गृहस्थ एवं अनुमोदना करने वाले गृहस्थ एवं साधुओं की किसी भी प्रकार से सल्लेखना संभव ही नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षण में सरागियों को अपना आराध्य बनाये हुए हो वह श्वास के अंतिम क्षणों तक उन्हीं को स्मरण करेगा। जबकि समंत भद्र स्वामी ने पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करने के लिए कहा है अन्य किसी के लिए नहीं।

कुन्द कुन्द स्वामी ने कहा है- जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलता फिरता मुर्दा है और जिस देह में से आत्मा निकल चुकी है वह अचल मुर्दा है। जैन हो या जैनेतर अचल मुर्दा का कोई आदर नहीं करता और जैन लोगों के यहाँ चलते फिरते मुर्दों के लिए आदर हेतु कोई स्थान नहीं है, लेकिन इस कलिकाल में जैन समाज में भी चलते फिरते मुर्दों के लिए बहुमान है। सल्लेखना के अधिकारी माने जाते हैं। जैसी गति सिद्धों की हुई है, जैसी गति अरहंतों की हुई है, जैसी गति वीत मोहियों की हुई है वैसी मेरी भी हो ऐसा प्रशस्त निदान प्रमाद/सविकल्प दशा में प्रशंसनीय है। विशेष साधना न कर सकने की स्थिति में जब कभी भी इच्छा जाग्रत हो जाती है कि वह शक्ति मुझे कब प्राप्त होगी जिसके बल पर उपरोक्त पुरुषों की गति को प्राप्त होऊंगा। अकलंक देव कहते हैं- मोक्षार्थी को मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष में बाधक है।

93. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, समाधि को समझ लिया हंसी मजाक का स्थान।

चातुर्मास के समय गुरु महाराज के सानिध्य में पांच साधकों की समाधि में सहयोगी बनने का सौभाग्य मिला, सबक भी। संस्कार के बाद भक्तों के अर्थ सहयोग से लोगों ने स्मृति के रूप में प्रशस्ति सहित चबूतरे का निर्माण करवाया। लोगों ने इन्हें मनोरंजन का साधन बना लिया। जिस किसी वृद्ध, वृद्धाओं से कहा जाता था- समाधि ले लो तुम्हारा भी

ऐसा ही चबूतरा बनवा देंगे। उस समय सुनने वालों के साथ-साथ हमने उस मजाक का आनन्द लिया। विचारणीय है कि जिसमें हर किसी का उत्थान सुनिश्चित है ऐसी सल्लेखना क्या हंसी-मजाक की चीज है यह बात उस समय हमारे दिमाक में नहीं आयी। मानलो कि कोई उस हंसी-मजाक पर गौर न कर चबूतरे के लोभ में वैसा कर ले तब तो निश्चित रूप से उसकी मौत ही होगी ऐसा समझना चाहिए।

एक वृद्धा जिसके आगे पीछे कोई नहीं था। उससे लोग मजाक की दृष्टि से कहा करते थे- अभी मृत्यु भोज करा दो और चबूतरा बनवा दो। पता नहीं तुम्हारे सूने में किसी ने करवाया की नहीं। सुना था- उसने वैसा ही किया। फिर भी उसके उस मरण को लोगों ने समाधि का रूप दिया।

सहधर्मी के समाधि पूर्वक मरण में सहधर्मी (खासकर ग्रह त्यागियों) को एक दिन का सूतक लगता है, लेकिन सहोदर आदि संबंधियों को तेरह दिन का। अर्थात् इतने दिन तक देव, गुरु शास्त्र को छू नहीं सकता। इतना ही नहीं समाधि की अपेक्षा खाली मरण मृत्यु भोज जैसी मूढ़ परंपरा के कारण इतना खर्चीला है कि मरने वाला तो मर जाता है, लेकिन उसके निकट संबंधी अधमरे हो जाते हैं। यह तो निश्चित है कि इस देश में ऐसे भी लोग हैं कि जिनके पास तत्काल जलाने के लिए लकड़ी तो क्या ढकने के लिए कफन भी नहीं होता फिर मृत्यु भोज जैसी अनिवार्य परंपरा का निर्वाह किस बल पर करेगा ? जिनके पास कुछ है वे जीवन भर गुलाम होने के बल पर या मकान, दुकान, जमीन आदि बेच कर फुटपाथ पर आकर परंपरा का निर्वाह करते हैं। कोई इन मूड परंपराओं से बचने के एवं इनसे होने वाली बर्बादी से परिवार को बचाने के लिए समाधि को स्वीकार करे यह भी उचित नहीं है। ऐसा सुना जाता है जिन्होंने घर से संबंध विच्छेद करके किसी आचार्य संघ में विधि पूर्वक समाधि मरण किया है। ऐसी स्थिति में सहधर्मी होने के नाते एक दिन का सूतक मानना चाहिए, लेकिन रुढ़िवादियों ने उनके संबंधियों को मृत्यु भोज कराने के लिए बाध्य किया, तेरह दिन का सूतक मानने के साथ-साथ। उन्हें बाध्य भी होना पड़ा। खाया-कमाया नहीं गया इसलिए साधु हो गये, ऐसा कहने वालों की तरह ऐसा कहने एवं सोचने वालों की कमी नहीं है, जो कहते हैं- मृत्यु भोज संबंधी खर्च से परिवार को बचाने के लिए संघ में जाकर समाधि ले ली या ले रहे हैं। एक दूसरे पर व्यंग्य भी करते हैं- आप भी संघ में जाकर समाधि ले लो खर्च से बचना हो तो। ऐसी छींटा कसी के कारण हो सकता है चाहते हुए लोग समाधि मरण से वंचित रह जायें। ऐसे क्षुद्र लोगों की परवाह किये बिना सामान्य मरण की अपेक्षा समाधि मरण कितना महान है जो कुरीतियों से सभी को बचा लेता है।

किसी के जन्म पर भले ही दूर अथवा निकट के संबंधी/रिश्तेदार/अड़ौसी-पड़ौसी आदि खुशी की अभिव्यक्ति करने में लापरवाही ही बरतें, लेकिन संयोगवश उसी के मर जाने पर सहानुभूति/दु:ख की अभिव्यक्ति करने में देर भले ही हो जाये, लेकिन सर्वथा लापरवाही नहीं बरती जाती। इस लोक व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है कि जन्म की अपेक्षा मरण महत्वपूर्ण हैं। फिर समाधिमरण के क्या कहने। दोनों की तुलना करे तो मरण शोक और समाधि श्रंद्धाजलि रूप होती है। मरण में मरने वाले की गति का निश्चय नहीं होती। समाधि में सद्गति होना निश्चित है।

परिशिष्ट

94. क्या समाधि धर्म महान ?
नहीं, शत्रु को मित्र मानता जानवर इंसान।

"वानर गद्दह सान गय बाघ वराह कराह, मक्खी जलूय सहाव नर जिनवर धम्मु विनाश" कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं- बन्दर, गधा, हाथी, श्वान, व्याघ्र, सुअर, कराह, मक्खी एवं जोंक के स्वभाव वाला मनुष्य धर्म का विनाशक होता है। प्रसंग वश यहाँ हाथी के स्वभाव के साथ मनुष्य की तुलना करना है - छोटे से मानव के द्वारा विशाल काय हाथी के पकड़े जाने में शक्ति कम युक्ति की विशेष आवश्यकता होती है और वह भी मायाचार रूप। हाथी पकड़ने वाले कृत्रिम हथनी तैयार करते हैं। जंगल में ले जाकर जहाँ उसे रखते हैं उसके चारों ओर गहरे गड्ढे खोद देते हैं। स्पर्शन इंद्रिय का लोलुपी हाथी हथनी के पास आने से पहले ही गड्ढे में गिर जाता है। पकड़ने वाले महीने पंद्रह दिन में आकर थोड़ा सा घास-पानी दे देते हैं। आठ-पंद्रह दिन बाद आकर उतनी ही घास आदि दे देते हैं। कुछ ही समय में हाथी उन्हें अपना उपकारी समझने लगता है और स्वतंत्र रूप से विचरण/घूमने वाला वह अपनी स्वाधीनता को भूल कर उनकी पराधीनता को स्वीकार लेता है। अपकारी को उपकारी समझ लेता है। अज्ञान दशा में ऐसी भूल होना सम्भव है। विचारणीय यह है कि जिस हाथी को यह ज्ञात हो जाये कि घास पानी देने वालों ने ही मुझे इस गड्ढे में गिराया है, तब क्या उनके द्वारा दिये उस भोजन को ग्रहण करेगा ? हाँ करेगा, यदि स्वाभिमानी होते हुए भी जीना चाहता है तो समझदारी से काम लेगा। सोचेगा- ग्रहण नहीं करूंगा तो मरना निश्चित है और ग्रहण करके जीता रहा तो उस गड्ढे से निकलने का अवसर भी मिल सकता है। किसी शत्रु के आधीन हुआ राजा उनके दिये गये भोजन को यही समझ कर ही तो ग्रहण करता है उपेक्षा भाव से। जैसे नंद राजा का मंत्री ग्रहण करता रहा और उसके साथ हुए अमानवीय कृत्य का बदला लिया चाणक्य को नंद के विरुद्ध भड़का कर।

अनादि काल से कर्म रूप महावतों/शत्रुओं के आधीन यह जीव भी अपनी स्वाधीनता/स्व चतुष्टय को भूला हुआ है और कर्म की दासता को स्वीकार किए हुए हैं जब कभी यह पुण्य कर्म घास-पानी की तरह भोग-उपभोग सामग्री दे देता है और यह मानव उस कर्म को अपना परम उपकारी समझ लेता है, कि यह नहीं देता तो जीवित, सुखी कैसे रह सकता था। कहे भले ही न, सोचे भले ही न, लेकिन कर्म के फल में आसक्त रहना, हो जाना ही अपकारी को उपकारी मानना है। अज्ञानी तो परम हर्ष से स्वीकार लेता है और ज्ञानी उपेक्षा भाव से, क्योंकि अभी बाहुबली की तरह कर्म शत्रु के द्वारा दिये हुए भोग,

उपभोग वस्तुओं की सर्वथा उपेक्षा न कर सके। जब पुण्य के फल को छोड़ने की बात कही जाती तब अधिकांश लोगों का यही कहना होता कि जब पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है, तब उसे छोड़ो क्यों ? ठीक है कि पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ, लेकिन बिल्ली की चूहे में आसक्ति की तरह पुण्य के फल में आसक्ति रही तो कर्म की सत्ता ही मजबूत होगी और कहीं हिरण के बच्चे की घास में आसक्ति की तरह पुण्य के फल में उपेक्षा भाव हुआ तो कर्म की सत्ता अधिक समय तक टिक नहीं सकती। साधु हो या श्रावक हाथी की विषयासक्ति की तरह विषयासक्ति के परिणामों की ओर दृष्टिपात करता रहता है, तो तत्काल सतर्क हो जाता है।

95. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, अशन से अनशन तैयारी अपना देश महान।

भारत की स्वतंत्रता का असहयोग आंदोलन ही एक राज है। गृहस्थ से श्रावक या साधु बनने का मतलब असहयोग आंदोलन छेड़ देना, कर्म रूप अंग्रेजों की सत्ता को हटाने के लिए। फूट डालों और राज्य करो की नीति के बल पर दो सौ वर्ष तक भारत पर शासन करने वाले अंग्रेजों को हटाने में बहुत समय लग गया था। विचार करें कि जिसका कोई आदि नहीं इतने समय से आत्मा पर शासन करने वाले इस कर्म की सत्ता को हटाने में कितना समय लगेगा, अत: धैर्य की आवश्यकता है। कुछ लोगों का मानना है- किसी कार्य के लिए एक बार प्रयास प्रारम्भ हो जाये तो देर-अवेर उसमें सफलता अवश्य मिलती है। उसी प्रकार कर्म से छूटने का प्रयास ही नहीं भावना ही जाग्रत हो जाये वह देर-अवेर कभी न कभी छूटेगा ही।

एक स्वतंत्रता सेनानी देश भक्त के मुंह से सुना था कि आंदोलनकारी सभी प्रकार के थे। अधिकांश तो स्वतंत्र होना चाहते हुए भी खुलकर सामने आने का साहस नहीं कर पाते थे। असंयत सम्यग्दृष्टि की ठीक यही स्थिति होती है। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने पकड़े जाने पर मार के भय से क्षमा मांग ली। भावुकता वश मोक्ष मार्ग पर चल पड़ने वालों की ठीक यही स्थिति होती है। कुछ ऐसे भी गांधी, लाल बहादुर जैसे सच्चे/साहसी देश भक्त थे जो कष्ट सहते रहे लेकिन क्षमा नहीं मांगी। सुना था- एक युवक आंदोलन कारी को क्षमा न मांगने पर जेल में बंद कर दिया था। कड़ाके की ठंड में भी उसे कपड़े भी नहीं दिये। इसी उद्देश्य से की सुबह क्षमा मांग लेगा, लेकिन वह रात भर व्यायाम करता रहा। सुनकर लगा कि बाहुवली जैसे साधकों ने अनशन इस आंदोलन के साथ-साथ कायक्लेश आंदोलन भी

छेड़ दिया हो। इस समय ऐसे आंदोलन कारियों का मिलना दुर्लभ है यहाँ। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने, पकड़े जाने पर, मार के डर से वहाँ तो क्षमा मांग ली और यहाँ आकर आंदोलन में सक्रिय हो गये। अनशन आदि तप करना मानों कर्म के खिलाफ आंदोलन छेड़ देना। ऐसी स्थिति में जब कर्म की उदीरणा होती है और कष्ट का अनुभव होता है तो आत्मा हाथ जोड़ देता है हम अब अनशन आदि नहीं करेंगे, क्योंकि हम जैसे साधुओं में इतनी सामर्थ्य कहाँ है जो "धैर्यंयस्य पिता" के अनुसार अंग्रेज रूपी कर्म की मार को सहते रहें और क्षमा न मांगे अर्थात् अशन आदि का सहारा न ले।

जो कभी जेल नहीं गया है उसे जेल नाम से डर लगता है, लेकिन जिसे अनेक बार जेल जाने का अवसर आया हो तब तो जेल घर जैसा ही हो जाता है ऐसा अनुभवी लोगों का मानना है। उसी प्रकार जिसने कभी अनशन न किया हो वह अनशन नाम से ही डरता है, लेकिन अनुभव यह कहता है कि शक्ति के अनुसार समय समय पर अनशन आदि होते रहें तो हाथ जोड़ना तो क्रमशः कम होता जायेगा। जिस समय पहली बार उपवास किया था दिन तो किसी तरह कट गया, लेकिन रात्रि दिन निकलने की प्रतीक्षा में कटी। उस समय भाव आता था कि अब कभी उपवास न करना पड़े। आहार कर लेने के बाद पुन: होशले बुलंद हो जाते थे अनशन आदि करने के लिये। उस समय ऐसा लगता था कि अंग्रेजों के नौकर होते हुए पुलिस वाले आंदोलन कारियों से कह रहे हों कि हमारी नजर बचाते हुए आंदोलन करते रहो। नजर में आये तो मजबूरी में पकड़ना पड़ेगा। जब अंग्रेज अपनी कूटनीति से भारतीयों को भारतीयों से ही पिटवा देते थे तब उसकी ही पुलिस आंदोलन करे इसमें आश्चर्य क्या है। उसी प्रकार कर्म के उदय में प्राप्त भोजन करके अनशन आदि आंदोलन की भूमिका बने तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अंग्रेज जैसे ही कोई कार्य की योजना बनाते। गांधी जी जैसे नेता उसका बहिष्कार कर देते थे।

96. क्या समाधि धर्म महान ?
हाँ, वीर प्रभू से रही प्रार्थना लौट सके न मोह प्रधान।

आसाम की घटना है- स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चल रहा था। पुलिस के सताये जाने पर आंदोलनकारी धमकी देते थे कि भारत स्वतंत्र होने दो फिर देखेंगे तुम्हें। इस धमकी पर एक पुलिस कर्मी का कहना था यदि भारत स्वतंत्र हुआ तो हम आत्महत्या कर लेंगे। अंग्रेजों के टुकड़ों पर पलने वाले और उन्हीं में संतुष्ट रहने वाले क्या सोच एवं कर सकते हैं, इसके अतिरिक्त। या तो वे परतंत्र मान ही नहीं रहे थे या स्वतंत्रता की अपेक्षा परतंत्रता में ही लाभमान रहे थे। देश रक्षा की जिम्मेदारी जिनके ऊपर नहीं है या नहीं होती

उन्हें चिन्ता भी शायद नहीं होती, क्योंकि उन्होंने अपने कर्तव्य की इति श्री कमाने-खाने तक ही मान ली है। अभव्य एवं भव्य मिथ्या दृष्टियों की ठीक यही स्थिति होती है जो अपने आपको पराधीन मानते ही नहीं। विषय सुख प्राप्ति ही उनके कर्तव्य की इतिश्री है। इन्हीं में कुछ ऐसे भी होते हैं जो मुनि बन कर कर्म से छूटने का प्रदर्शन अवश्य कर लेते हैं, लेकिन छूटने का लक्ष्य होता ही नहीं। कुछ ऐसे भी आंदोलन कारी रहे हैं जो स्वतंत्र होना नहीं चाहते हुए भी आंदोलनकारियों के भय से स्वतंत्र होने का प्रदर्शन करतें थे, आंदोलन में भाग लेकर। अधिकांश माध्यस्थ थे। स्वतंत्र होता तो ठीक नहीं होता तो ठीक।

यह भी सुना था कि भारतीयों की संख्या के आगे अंग्रेज मुट्ठी भर भी नहीं थे। जैसे हाथी के समाने महावतों की स्थिति होती है वैसे ही आठ कर्म आत्मगुणों के सामने मुट्ठी भर भी नहीं हैं। मुट्ठी भर अंग्रेजों का मुखिया एक पंचम जार्ज जिसने भारत पर ही नहीं सारे विश्व पर राज्य किया था। आठ कर्मों में प्रधान मोह है जिसके राज्य के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। अंग्रेजों को तो मार भगाया, लेकिन उनकी छाप/संस्कृति अभी भी जीवित है, अत: कहा नहीं जा सकता कि भारतीय मिली स्वतंत्रता को जीवित रख सकेंगे। मोह की ठीक यही स्थिति होती है। आत्मा में उसका किसी न किसी रूप में अस्तित्व विद्यमान हो तो कभी भी हावी हो सकता है निमित्त पाकर। अत: देश चिंतकों की तरह प्रतिक्षण समाधि के इच्छुक साधकों को मोह मात्र से सावधान रहने की आवश्यकता है।

कुछ ऐसे भी लोग थे जो स्वतंत्र होने के विषय में चर्चा अवश्य कर लेते थे। साथ ही आंदोलनकारियों के विषय में- उनके पक्ष-विपक्ष में टीका टिप्पणी भी कर लिया करते थे। सैकड़ों वर्ष धर्म चर्चा में निकाल देने वालें पण्डितों की जैन समाज में यही स्थिति रही है। अधिकांश पण्डित समाधि का मुंह तो नहीं देख पाये, लेकिन समाधि के साधकों की टीका टिप्पणी अवश्य करते रहे एवं अभी भी कर रहे हैं।

जेल में दो कारणों से बंद किया जाता है। एक तो अपराध करने/होने पर। दूसरा, सत्ता पक्ष की मनमानी पर रोक लगाने के लिए लोगों के द्वारा हो रहे आंदोलन पर उन्हें बंद किया जाता है, लेकिन अपराधियों की तरह इन्हें कष्ट नहीं दिया जाता, अपितु सुविधायें जुटायी जाती हैं। उसी प्रकार विषयानुरागी को कर्म, नोकर्म (तिर्यन्च, नरक तन) रूपी कष्ट मय जेल में डाल दिया करता है और धर्मानुरागी को यह कर्म नोकर्म (मनुष्य, देव तन) रूप सुखमय जेल में डाल देता है। जैसे नकुल, सहदेव महाराज को क्षणिक भावकर्म (राग) ने तेंतीस सागर की जेल में डाल दिया था। समाधि का लक्ष्य मात्र विषयानुराग से बचना नहीं है, अपितु धर्मानुराग से भी बचना है। क्योंकि यह पण्डित पण्डित मरण में बाधक है। समाधिमरण से जो दो, तीन और सात, आठ भव शेष रहने की बात कही गई है

वह उपचार है। देह भी छूटती है देश भी छूटता है की तरह तद् भव मोक्षगामी न हो तो धर्म (चारित्र) भी छूटता है और देह भी छूटती है। देश रक्षा की तरह धर्म रक्षा के लिए देह छोड़ने वाले नियम से सद्गति पाते हैं।

अंतिम मंगलाचरण

भूलभयी स्कूल में भूल भयी अनुकूल।
सबक मिला अनुकूल है पा जाऊं भव कूल ॥ 1 ॥

ग्राम पठारी में शुरु किया गया यह ग्रन्थ।
ग्राम पठारी में पुनः पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ ॥ 2 ॥

लेख सरल लेखक सरल सागर मुनि निर्ग्रन्थ।
चन्द्र मति प्रेरक बनीं पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ ॥ 3 ॥